DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE

नेहरू और नई पीढ़ी

नेहरू और नई पीढ़ी

लेखक
हरिदत्त शर्मा

प्रकाशक
एन० डी० सहगल एण्ड संज़
दरीबा कलां, दिल्ली।

प्रकाशक
एन० डी० सहगल एण्ड सन्ज़
दरीबा कलाँ, दिल्ली।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रथम संस्करण सन् १९६०

मूल्य : ४ रुपये २५ न० पै०

आवरण : द्वारकाधीश

मुद्रक :
हरिहर प्रेस,
चावड़ी बाज़ार, दिल्ली।

NEHRU AUR NAI PEERHEE : Rs.

समर्पण

अपनी स्नेहमयी स्वर्गीया मौसी को
पुण्यस्मृति में सादर समर्पित
जिन्होंने 'महाजनी सभ्यता' के प्रति मेरे मन में सबसे पहले
घोर अनास्था भर कर जीवन के तत्त्व को
समझने के लिये प्रेरणा दी।

आर्यपुरा, सब्जी मण्डी,
दिल्ली।
१०-१-६०

हरिदत्त शर्मा

लेखक के विषय में

श्री हरिदत्त शर्मा जून १६४४ में हरिद्वार से दिल्ली आये। एक काम छोड़कर आये थे, दूसरे काम की तलाश में थे। मस्ती और आज़ादी से भरा हुआ दिल सरकारी चार दिवारी के बन्धन तोड़ चुका था। सन् '४२-'४३ में मैं साप्ताहिक 'नवयुग' का सहायक सम्पादक था। सम्पादक मेरे मित्र महावीर अधिकारी थे। अधिकारी जी की शर्मा जी से बचपन की दोस्ती थी। हरिद्वार से 'नवयुग' के लिये वह 'हरि हरिद्वारी' के नाम से हास्यरसपूर्ण 'संपादक की चिट्ठियां' लिखा करते थे। इसी सिलसिले में चर्चा छिड़ जाती और अधिकारी जी घंटों रस से भरे हुए संस्मरण सुनाते रहते। इस तरह मेरी और शर्मा जी की दोस्ती शुरू हुई, बिना मिले। पहली मुलाकात से पहले ही मैं उनके काफी नज़दीक पहुँच चुका था। दिल्ली में कुछ समय इधर-उधर काम करने के बाद वह 'नव भारत टाइम्स' में आ गये। तबसे अब तक वह उस काम को बड़ी लगन से कर रहे हैं।

ये पन्द्रह वर्ष हम दोनों के जीवन में, हमारे देश के जीवन में और सारे संसार के जीवन में बड़े महत्व के गुज़रे हैं। इन महत्त्वपूर्ण वर्षों में हमने भी अपना-अपना योगदान किया है। राजनैतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपनी-अपनी यथासंभव सेवाएं अर्पित की हैं। श्री हरिदत्त शर्मा दिल्ली नगरपालिका की अंतिम अवधि में स्वतन्त्र सदस्य थे। मेरा मार्ग राजनीति का रहा तो उनका नागरिकता का।

इस समय भी वह दिल्ली नगर निगम के स्वतन्त्र सदस्य हैं; अपने क्षेत्र की जनता में बहुत लोकप्रिय हैं, बड़े ओजस्वी वक्ता हैं, सिद्धहस्त लेखक हैं, विचारक हैं। यह कहने पर भी परिचय पूरा नहीं होता। हरिदत्त शर्मा एक ऐसा व्यक्तित्व है जो कई प्रकार की धातुओं से मिल कर बना है, जिस पर लोहे का पानी चढ़ा है, लेकिन संघर्षों की पालिश से जो सोने की तरह दमक रहा है। उनके पारिवारिक दुःखों की कहानी सुना कर मैं आपका मन भारी नहीं करना चाहता। उन सब दुःखों की कल्पना कर लीजिये जो एक मध्यम श्रेणी के हिन्दू परिवार में हो सकते हैं। शर्मा जी का पारिवारिक जीवन उन सबकी जीती जागती तस्वीर है। अपने ही नहीं दूसरे निकट सम्बन्धी परिवारों के दुःख भी अपना घर समझ कर उनके यहां चले आये। लेकिन क्या मजाल कि शर्मा जी के हसते हुए चेहरे पर घटा छा जाय। मिलने वाला मनोविज्ञान का कितना ही बड़ा पण्डित क्यों न हो, उसे कभी नहीं मालूम हो सका और न शायद कभी हो सकेगा कि इन हँसते हुए ओठों के पीछे वेदना का कितना बड़ा समुद्र लहरा रहा है। एक दुःख बाकी बचा था—जवानी में विधुर होने का। वह भी तीन वर्ष हुए, आ पहुँचा। मैं जब 'निगमबोध' जा रहा था, सोच रहा था: 'आज पहली बार हरिदत्त की आँखों मे आँसू होंगे।' लेकिन नहीं, वहाँ भी धोखा हुआ। अन्य मित्र रो रहे थे पर हरिदत्त शान्त थे। सिर्फ हँसी नहीं थी, बाकी सब वही था। इस तस्वीर से उनका परिचय पूरा होता है। वह सुख मे सबको साझीदार बनाते हैं, दुःख का किसी से जिक्र भी नहीं करते। इलाके के और जहां तहां के गरीब लोगों की जरूरतों को पूरा करते हैं, प्रगतिशील विचारों का प्रचार और साहित्य-साधना करते हैं, फिर परिवार को सम्हालते हैं और सबसे ऊपर नये समाज की रचना में जितना हो सकता है, जिस प्रकार हो सकता है, योगदान करते हैं। साथ ही साथ आजीविका के लिये प्रतिदिन ८ घंटे काम करते हैं और काम भी दैनिक पत्र का, जहाँ दिन और रात ड्यूटी

करनी पड़ती है ! इसी प्रकार की जिन्दगियाँ हैं, जो 'आने वाले कल' की गंगा को लाने के लिये पहाड़ तोड़ रही हैं।

मैंने हरिदत्त जी को कभी राजनैतिक विचारों की दृष्टि से आँकने की कोशिश नहीं की है। दुर्भाग्य से इस मामले में हमारा मतभेद है। मैं हूँ गाँधी-नेहरू का अनुयायी, काँग्रेस मैन। उन्होंने दूसरा रास्ता पकड़ा है—स्वतन्त्र राजनीति का। फिर भी शायद हमारी मंजिल एक है, वरना इस पुस्तक के लिखने का काम वह नहीं उठाते। मैंने दलगत राजनीति के बन्धनों को स्वीकार किया है। उनका मन नहीं मानता।

आमतौर पर सभी शोषित वर्गों से और खासतौर पर कपड़ा मजदूरों से उनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, जिसका अंकन उन्होंने 'यह बस्ती, यह लोग' उपन्यास में सफलतापूर्वक किया है। साम्यवादी विचारधारा का उन्होंने अपने ऊपर खूब प्रभाव पड़ने दिया है, पर उसमें भी सार ग्रहण कर लिया, बाकी छोड़ दिया। जिन दिनों 'प्रजा' साप्ताहिक में वह नियमित रूप से लिखते थे, उनकी कलम की धूम थी। हम तीनों, मैं, हरिदत्त और महावीर अधिकारी, मिलकर वह पत्र चलाते थे। श्री कन्हैयालाल जी 'प्रभाकर' ने तो हमारा नाम ही 'त्रिमूर्ति' रख दिया था। आज वक्त ने हमें अलग-अलग दिशाओं में धकेल दिया है, पर एक डोर है, जो चौबीसों घंटे हमें बाँधे रहती है और वक्त की तेज से तेज धार भी उसे नहीं काट सकेगी।

हरिदत्त जी की जिन्दगी में मित्रों की कमी नहीं, मेरी जिन्दगी भी भरी पूरी है, पर आज भी बिना मिले हम पूरी तरह हँस नहीं पाते।

१० दिसम्बर, १६५६
दिल्ली

ब्रजमोहन
महामंत्री
दिल्ली प्रदेश काँग्रेस कमेटी

समस्या और समाधान

डा० वी० के० आर० वी० राव, उपकुलपति दिल्ली विश्वविद्यालय

युद्धोत्तर-विश्व में नई पीढ़ी की समस्या ऐसी है कि उसकी राष्ट्रीय सीमाएं तो क्या, विचार-धारा सम्बन्धी भी सीमाएं नहीं हैं। नई पीढ़ी के बड़े वर्गों में अनुशासन-हीनता का जो थोड़ा सा वातावरण फैला हुआ है, उसे "क्रुद्ध नवयुवकों" की जो अभिव्यक्ति दी जा रही है, वह हमारे देश की भी स्थिति को एक तरह से ज्ञापित कर देती है। विशेष रूप से पिछले तीन वर्षों मे देश के विभिन्न भागों में और खासतौर से उत्तरी भारत में छात्र जगत में अनुशासनहीनता के अनेकानेक कर्म हमने देखें हैं। वस्तुतः हमारे लिए छात्रों में अनुशासनहीनता की समस्या देश की अति महत्वपूर्ण समस्या बन गई है।

अचरज की बात है, इस समस्या को समझ-बूझकर इसका जो समाधान बताया जाता है और तथ्यतः अधिकांश मामलों में जो समाधान प्रयोग में लाया जाता है, वह रोग से भी बुरा है। दबाव, दंड और ज़ोर जबर्दस्ती से अनुशासनहीनता दब तो सकती है, लेकिन इन से अनुशासनहीनता के कारण दूर नहीं होंगे। इस सिलसिले में बुनियादी तौर पर एक पृथक व्यवहार की, ऐसे व्यवहार की आवश्यकता है जो मूलतः विवेक से भरी और स्नेह से पगी हो। हमें यह देखना होगा कि हमारे देश में जिन नवयुवक और नवयुवतियों की आजकल इतनी चर्चा है, वे अपने कारनामों के कारणों को चेतन अथवा अचेतन रूपसे गम्भीरता के साथ जरूर महसूस करते हैं और जब तक हम इन कारणों को न समझें, और ऐसी विधियों से उनको दूर करने का यत्न न करें जो मूलभाव से गांधीवादी हैं, मुझे यह भय है कि हम इस समस्या को हल नहीं कर पायेंगे।

इस पृष्ठभूमि में मैं इस प्रकाशन का स्वागत करता हूँ। नई पीढ़ी से श्री जवाहरलाल नेहरू जो वर्षों से कहते चले आ रहे हैं, इस प्रकाशन मे उस तत्व को उभारा गया है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भारत में सबसे अधिक सच्चाई और निष्ठा से अनेक रूपों में गांधीवाद पर अमल करने वाले शायद श्री जवाहर लाल नेहरू ही हैं। यह अच्छी बात है कि भारत के नवयुवकों और नवयुवतियों के नाम विशेष रूप से समय-समय पर दिये गये श्री जवाहरलाल नेहरू के विविध भाषणों को लेखक ने एक जगह सम्पादित कर दिया है। इन भाषणों के पीछे जो भावना है उस पर प्रत्येक मंच से बार-बार बल दिया जाना चाहिये।

राष्ट्रीय जीवन में नई पीढ़ी को एक गम्भीर शक्ति के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये। असंदिग्ध रूप से नई पीढ़ी मे जो एक आदर्शवाद है, उस पर बार-बार ज़ोर दिये जाने की आवश्यकता है, राष्ट्र-निर्माण में रचनात्मक कार्य करने के लिए इस आदर्शवाद को सदा जगाया जाना चाहिये, नई पीढ़ी ही राष्ट्र-निर्माण के रचनात्मक कार्य समुचित ढग से कर सकती है। हाँ, इस अनुशासनहीनता की तह मे जो गम्भीरतर कारण हैं उनका निदान छात्र जगत अथवा नई पीढ़ी के क्षेत्र में ही किसी चीज़ से भी नहीं हो सकता। वर्तमान पीढ़ी के लोग विशेषकर बुज़ुर्ग, उभरती-पनपती नई पीढ़ी के सामने जब संकुचितता और घोर अनुशासनहीनता का प्रदर्शन करते हैं, तो यह स्वभाविक ही है कि नई पीढ़ी पर उसका असर पड़े। ज़ाहिर है इसलिए, केवल नई पीढ़ी से ही सम्बोधित न हुआ जाए, अपितु बुज़ुर्ग लोगों से अधिक सम्बोधित होने की आवश्यकता है। यही तक नहीं, विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त करने के बाद जब नवयुवा वर्ग को बेकारी और आर्थिक अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है, तो उसमे निराशा की भावना का पैदा हो जाना लाजमी है। ऐसी स्थिति मे अनुशासनहीनता, और अराजकतापूर्ण व्यवहार की ओर उनका आसानी से झुकाव हो सकता है। यहाँ पर हम फिर कहें कि जबतक देश की

आर्थिक प्रगति बहुत तेज़ी से और बहुत बड़े तौर पर नहीं होती तो समूचे छात्र जगत से अनुशासन और व्यवस्था की आशा करना कठिन है।

इतना सब कुछ कह चुकने के बाद भी, एक विकट प्रश्न शेष रह जाता है, इस प्रश्न का सम्बन्ध छात्र-जगत से ही है; यह प्रश्न अथवा समस्या है छात्रों का आदर्शवाद। इसी आदर्शवाद के अनुसन्धान, पोषण, स्थायित्व और निर्माण की आवश्यकता है; और यह काम तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि कोई ऐसा ध्येय न हो, जिसकी ओर यह आदर्शवाद अपने को प्रवृत कर सके। मेरी सम्मति में इस ग्रन्थ में श्री जवाहर लाल नेहरू के ऐसे भाषण हैं जो इस ध्येय और मन्तव्य को निश्चित रूप से नई पीढ़ी के सामने प्रस्तुत करते हैं, और यदि छात्र-जगत में ये भाषण व्यापक रूप से अध्ययन और मनन का विषय बने तो मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वे छात्रों को प्रच्छन्न किंतु साथ ही सशक्त आदर्शवादी भावनाओं को दृढ़ करने में सहायक होंगे। भारतीय छात्रों की *आदर्शवादी निष्ठा यदि एक बार जागृत होकर उस मन्तव्य की ओर लग* जाए, जो गाँधी जी के हृदय को बड़ी प्रिय थी, यानि कि भारत के दरिद्र नारायण के साथ एक रूप हो जाना और उसकी सेवा में लग जाना, तो मुझे सन्देह नहीं कि हम विकास के उस युग में आ जाएंगे जिसमें छात्र पहिले की भाँति अग्रिम पंक्ति में होंगे।

दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली ८
२१ दिसम्बर, १६५६

सूची

१. नेहरू का विद्यार्थी जीवन	...	१७
२. क्रान्ति की पुकार	...	३७
३. सबलार्य बनें	...	४७
४. विचारों के अवतार	...	५५
५. नये भारत की कल्पना	...	६५
६. लक्ष्य	...	७३
७. मन की मुक्ति	...	८१
८. काम ही सार तत्व	...	६१
६. साध्य और साधन	...	१०१
१०. गांधीवादी पद्धति	...	१११
११. मनुष्य की शक्ति	...	१२१
१२. बुनियादी समझ	...	१३१
१३. गतिशीलता	...	१४१
१४. सुन्दर संसार	...	१४६
१५. माँ का प्रशिक्षण	...	१५७
१६. बुनियादी शिक्षा	...	१६५
१७. अवसर पकड़ लें	...	१७५
१८. पुराना और नया	...	१८३
१६. आगे बढ़ते जाओ	...	१६३
२०. तूफानों के बीच झाँकियों से	...	२०३
२१. शेरों की तरह रहो	...	२१५
२२. उन्नति का मार्ग	...	२२५

नेहरू का विद्यार्थी जीवन

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥

विद्या से विनय, विनय से सम्मान की पात्रता, इस पात्रता से धन, धन से धर्म और फिर सुख मिलता है ।

ये गुण भारत के ज्वलंततम नेता श्री जवाहरलाल नेहरू में हैं । विद्यार्थी जीवन के पूर्ण होने और भारत में लौटने तक उनमें विनय का अभाव था, पर राष्ट्रीय आंदोलन के तीव्रतम संघर्षों और गाँधी जी के सान्निध्य से विनय भावना उनमें आ गई और वह मानव जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर होने लगे ।

"……मैने अपनी आत्मकथा जो लिखी, वह भारतीय संग्राम के संदर्भ मे अपना स्थान पा लेने का एक प्रयास था। वस्तुतः वह पुस्तक मेरे अपने बारे मे न होकर भारत मे स्वतन्त्रता संग्राम के बारे में अधिक थी।"

—जवाहरलाल नेहरू

श्री जवाहरलाल नेहरू ने नई दिल्ली मे अन्तर्विश्वविद्यालय युवक समारोह मे २३ अक्तूबर सन् १६५५ को भाषण करते हुए उक्त शब्द कहे थे। वास्तव में श्री जवाहरलाल नेहरू का जो लेखन-कार्य हुआ है, वह उनका अपने कर्म क्षेत्र को सुनिश्चित कर लेने की दृष्टि से है। किसी भी अच्छे सार्वजनिक कार्यकर्ता अथवा नेता के लिए यह बड़ा आवश्यक है कि वह लिखकर सोचे और इस तरह सोचे कि वर्तमान राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे उसका अपना कार्य किस श्रेणी मे आता है। आत्मपरिष्कार का यह सुन्दर ढंग है। इस सिलसिले में एक उर्दू शायर का एक कौल याद आता है;

मैं अपने आप मे, इन शायरों में फर्क करता हूँ,
सखुन इनसे सवरता है सखुन से मैं संवरता हूँ॥

श्री जवाहरलाल नेहरू इसी ढंग से अपने जीवन और सार्वजनिक कर्म को सखुन में संवारते हुए चले आ रहे हैं और उनका जीवन सूरज

की तरह जगमगा रहा है। आत्मपरिष्कार के इस ढंग का ही यह परिणाम है कि वह अपने जीवन की आखिरी साँस तक अपना सर्वस्व भारतीय जनता की सेवा में समर्पित करने के लिए दृढ़व्रती हैं। अभी कांग्रेस महा-समिति के चण्डीगढ़ अधिवेशन (ता० २६ सितम्बर १६५६) में उन्होंने फिर एक बार यह घोषणा की कि मैं अधिक से अधिक शक्ति के साथ देश सेवा करता रहूँगा।

स्वतन्त्रता-संग्राम की पृष्ठ भूमि में अपनी जगह खोज लेने के यत्न में लिखी गई उनकी अपनी आत्मकथा से उनके विद्यार्थी जीवन की उनके अपने शब्दों में एक झलक ले लेना पाठकों के लिए बड़ा समीचीन होगा। इससे वे नयी पीढ़ी के नाम संदेशों, वक्तव्यों, लेखों और भाषणों को अच्छे ढंग से समझ सकेंगे। निम्न शब्दों में श्री नेहरू का उनके अपने शब्दों में लन्दन में विद्यार्थी जीवन चित्रित है:—

"मई के अखीर में हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए रास्ते में सुशिमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गए। मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनों बाद ही एम० ए० अन्सारी (डाक्टर अन्सारी) से मेरी भेंट हुई। उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहाँ के विद्यालयों में चमत्कारिक सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों वह लन्दन के एक अस्पताल में हाउस सर्जन थे।

"हैरो में दाखिल होने के लिए मेरी उम्र बड़ी थी। क्योंकि मैं उन दिनों १५ बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशकिस्मती थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरोप के दूसरे देशों की यात्रा के लिए चले गए, और फिर वहाँ से कुछ महीनों बाद हिन्दुस्तान लौट गए।

"इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिलकुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बहुत ही सूना-सूना मालूम पड़ता था और घर की

प्रमाद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की जिन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद में मशगूल रहने लगा। लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल में खयाल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होंगे। कुछ हद तक मैं सबसे अलग अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलों में चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मैं खेल से पीछे हटने वाला भी नहीं था।

"शुरू में तो मुझे नीचे के दर्जे में भरती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन मुझे फौरन ही तरक्की मिल गई। ग़ालिबन कई बातों में, और खासकर आम बातों की जानकारी में, मैं अपनी उम्र के लोगों से आगे था। इसमें शक नहीं कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे, और मैं अपने ज्यादातर सहपाठियों से ज्यादा किताबें और अख़बार पढ़ता था। मुझे याद है कि मैंने अपने पिता जी को लिखा था कि अंग्रेज लड़के बड़े मट्ठे होते हैं, क्योंकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन इसमें मुझे अपवाद भी मिले थे, खास तौर पर ऊपर के दर्जों में।

"इंगलैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहाँ तक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर में हुआ और उसमें लिबरलों की बड़ी भारी जीत हुई। १९०६ के शुरू में हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे नयी सरकार की बाबत सवाल पूछे और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे में मैं ही एक ऐसा लड़का था जो उस विषय पर बहुत-सी बातें बता सका—यहाँ तक कि कैंपबेल बैनरमेन के मंत्रिमंडल के सदस्यों की करीब-करीब पूरी फहरिस्त बता दी।

"राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी, वह था हवाई जहाजों की शुरूआत। वह जमाना राइट ब्रदर्स और संतोष ड्यूमोंट का था। इनके बाद ही फौरन फरमान ब्लेयम और ब्लीरियोट

आये। जोश में आकर हैरो से मैंने अपने पिता जी को लिखा था कि मैं हफ्ते के अखीर में हवाई जहाज द्वारा उड़कर आपसे हिन्दुस्तान में मिल सकूँगा।

"इन दिनों हैरो में चार या पाँच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहने वालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौका मिलता था, लेकिन हमारे अपने ही घर में, हैडमास्टर के यहाँ—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझ से बहुत आगे थे। और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोक-प्रिय थे। मेरे जाने के बाद फौरन ही वह वहाँ से चले गए। पीछे महाराज कपूरथला के बड़े लड़के परमजीत-सिंह आये, जो आजकल टीका साहब हैं, वहाँ उनका मेल बिल्कुल नहीं मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लड़कों से मिलते-जुलते नहीं थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर तरीकों का मजाक उड़ाया करते थे। इससे बहुत चिढ़ते थे और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे तब तुम्हें देख लूँगा। यह कहना बेकार है कि इस घुड़की का कोई असर नहीं होता था। इससे पहले वे कुछ समय तक फ्रांस में रह चुके थे और फ्रांसीसी भाषा में धाराप्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेजी स्कूलों में विदेशी भाषाओं को सिखाने के तरीके कुछ ऐसे थे, कि फ्रान्सीसी भाषा के दर्जे में उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नहीं आता था।

"एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस मास्टर साहब यकायक हमारे कमरों में घुस-घुस कर तलाशी लेने लगे। पीछे मालूम हुआ कि परमजीतसिंह की सोने की मूठ की खूबसूरत छड़ी खो गई है। तलाशी में वह नहीं मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स मैदान में ईटन और हैरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह छड़ी उनके मकान में रखी मिली। जाहिर है कि किसी साहब ने मैच में उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

"हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासों में थोड़े से यहूदी भी थे।

में वे मज़े में बिला खरखशा रहते थे, लेकिन तह में इनके खिलाफ खयाल ज़रूर काम करता था कि ये लोग "बदमाश यहूदी" हैं और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजाने, मैं भी यही सोचने लगा कि इनसे नफरत करना ठीक ही है। लेकिन, दरअसल मेरे दिल मे यहूदियों के खिलाफ कभी कोई भाव न था। और अपने जीवन में यहूदियों में मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

"धीरे-धीरे मैं हैरो का आदि हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मैं यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नहीं चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ खींच रहा था। १९०६ और १९०७ में हिन्दुस्तान से जो खबरें आती थीं, उनसे मैं बहुत बेचैन रहता था। अग्रेज़ी अखबारों में बहुत कम खबरें मिलती थीं, लेकिन जितनी मिलती थी, उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश में बंगाल, पजाब और महाराष्ट्र में बड़ी-बडी बातें हो रही हैं। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था, बंगाल में हाहाकार-सा मचा मालूम पडता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज़ गूँज रही थी। इन बातों से मेरे ऊपर भारी असर पड़ा। लेकिन हैरो में एक भी शख्स ऐसा न था, जिससे मैं इस बारे की बातें कर सकता। छुट्टियों में मैं अपने कुछ चचेरे भाइयों तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तो से मिला और तभी मुझे अपने जी को हल्का करने का मौका मिला।

"स्कूल मे अच्छा काम करने के लिए मुझे एक इनाम जो मिला, वह जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरीबाल्डी विषयक एक पुस्तक थी। इस पुस्तक मे मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फौरन ही इस माला की बाकी दो किताबें भी खरीद लीं और उसमे गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बड़ी साव-धानी के साथ पढी। हिन्दुस्तान में भी इस तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आज़ादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने

लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिलजुल गये। इन खयालों के लिए हैरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम देने लगी। और मैं विश्वविद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा। इसी लिए मैंने पिता जी को इस बात के लिए राजी कर लिया और मैं हैरो में सिर्फ दो बरस रह कर वहाँ से चला गया। यह दो बरस का समय वहाँ के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

"यद्यपि मैं हैरो से खुद अपनी मर्जी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब अलग होने का समय आया तब मुझे बड़ा दुख हुआ, मेरी आँखों में आँसू आ गए। मुझे वह अच्छी लगने लगी थी, और वहाँ से सदा के लिए अलग होने ने मेरे जीवन के एक अध्याय को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह खयाल आ जाता है कि हैरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुख कितना था। क्या कुछ हद तक यह बात न थी कि मैं इसलिए दुखी था,क्योंकि हैरो की परम्परा और उसके गीत के अनुसार मुझे दुखी होना चाहिए था? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकता था, क्योंकि उस स्थान के साथ अपना मेल बिठा सकने के खयाल से मैंने उनका विरोध कभी नहीं किया था।

"१९०७ के अक्तूबर के शुरू में मैं कैम्ब्रिज के ट्रिनटी कालेज में पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र १७ बरस की या १८ बरस के नजदीक थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अन्डर ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुकाबले में मुझे यहां जो चाहूँ सो करने की काफी आजादी मिलेगी, मैं लड़कपन के बन्धनों से मुक्त हो गया और महसूस करने लगा कि आखिर मैं भी अब बड़ा होने का दावा कर सकता हूँ। मैं ऐंठ के साथ कैम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता था और यदि कोई जान-पहचान वाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

"कैम्ब्रिज में तीन साल रहा। ये तीनों साल शांतिपूर्वक बीते। इनमें किसी प्रकार के विघ्न नहीं पड़े। तीनों साल धीरे-धीरे धीमी-धीमी बहने वाली कैम नदी की तरह चले। ये साल बड़े ग्रानन्द के थे। इनमें बहुत से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले, और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढ़ता रहा। मैंने प्राकृतिक विज्ञान का ट्राइपस कोर्स लिया। मेरे विषय थे रसायन शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र और वनस्पति शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्हीं विषयों तक महदूद न थी। कैम्ब्रिज या छुट्टियों में लन्दन में अथवा दूसरी जगहों में जो लोग मुझे मिले, उनमें से बहुत से विद्वत्तापूर्वक, ग्रन्थों के बारे में, साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे मे, बातचीत करते थे। पहले-पहल तो ये बड़ी-चढ़ी बातें मुझे बहुत मुश्किल मालूम हुईं, परन्तु जब मैंने कुछ किताबें पढ़ीं, तब सब बातें समझने लगा। जिससे मैं अन्त तक बातें करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसी के बारे में अपना घोर अज्ञान जाहिर होने नहीं देता था। हम लोग नीत्शे और बर्नार्डशा की भूमिकाओं तथा लावेस डिकिन्सन की नई से नई पुस्तकों के बारे में बहस किया करते थे। उन दिनों कैम्ब्रिज मे नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपने को बड़ा तार्किक—चलता पुर्जा समझते थे और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयों पर बडे अधिकृत रूप से ज्ञान के साथ बात करते थे। और बातचीत के सिलसिले में ईवान ब्लाक, हैवलोक ऐलिस, क्राफ्ट एविंग, और ग्रोटो विनिंगर, के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस करते थे कि इन विषयों के सिद्धान्तों के बारे में हम जितना जानते हैं। विशेषज्ञों को छोड कर और किसी को उससे ज्यादा जानने की जरूरत नहीं है।

"वास्तव में हम बातें जरूर बढ़-चढ़कर मारते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के बारे में हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम से कम मैं तो जरूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान कैम्ब्रिज छोड़ने के बाद

भी, बहुत बरसों तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों हुआ? यह कहना कुछ कठिन है। हम में से अधिकांश का स्त्रियों की ओर जोर का आकर्षण था, और मुझे इस बात में सन्देह भी है कि उनके सहवास में हममें से कोई किसी प्रकार का पाप समझता था। मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नहीं थी। हम लोग आपस में कहा करते थे `` स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध का न तो किसी सदाचार से सम्बन्ध है, न दुराचार से, वह तो इन आचारों से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार झिझक तथा इस सम्बन्ध में आमतौर पर जिन तरीकों से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रखा। इन दिनों मैं निश्चित रूप से एक झेंपू लड़का था। शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन में अकेला रहा था।

"इन दिनों जीवन के प्रति मेरा आम रुख एक अस्पष्ट प्रकार के भोगवाद का था, जो कुछ अंश तक युवावस्था के लिए स्वाभाविक था और कुछ अंश तक आस्कर वाइल्ड और वाल्टर पेयर के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की जिन्दगी की ख्वाहिश को भोगवाद जैसा बड़ा नाम देना है तो आसान और तबियत को खुश करने वाली बात, लेकिन मेरे मामले में इसके अलावा कुछ और बात भी थी, क्योंकि खासतौर पर आराम की जिन्दगी की तरफ रुजू न था। मेरी प्रकृति-धार्मिक नहीं थी, और धर्म के दमनकारी बन्धनों को मैं पसन्द भी नहीं करता था। इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे 'स्टेण्डर्ड' की खोज करता। उन दिनों मैं सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नहीं जाता था, इसीलिए जीवन का सौन्दर्यमय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुयोग्यता के साथ जीवन यापन करूँ। गंवारू ढंग से उसका उपभोग तो मैं नहीं करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूरा तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का

उपभोग करता था, और इस बात से इंकार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई बात क्यों समझूँ ? साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। अपने पिताजी की तरह मैं भी हर वक्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर बड़ी-बड़ी बाजियों का, जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याओं का। १६०७ तथा १६०८ मे हिन्दुस्तान की राजनीति मे उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमें वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी अवस्था मे मैं तो आराम की जिन्दगी बसर कर ही नहीं सकता था। ये सब बातें मिलकर और कभी-कभी परस्पर विरोधी इच्छाएँ मेरे मन मे अजीब खिचड़ी पकाती, भवर सी पैदा कर देती। उन दिनों ये सब बातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थी। परन्तु इससे मैं उन दिनों परेशान था, क्योंकि इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तब तक—जीवन शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का—जीवन आनन्दमय था। हमेशा नित नए क्षितिज दिखाई पड़ते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीजें देखनी थी, इतने नए क्षेत्रो की खोज करनी थी। जाड़े की लम्बी रातों मे हम लोग अगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ रात में आपस मे बातें तथा विचार विनिमय करते, उस समय तक जब तक अगीठी की आग बुझ कर हमे जाड़े से कँपा कर बिछौने पर भेज न देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद मे हमारी आवाज मामूली न रहकर तेज हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश में आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था उन दिनो हम लोग जीवन की समस्याओं के साथ गम्भीरता के स्वांग करके खेलते थे। क्योंकि उस वक्त तक हमारे लिए वास्तविक समस्याएँ न हो पाई थीं और हम लोग ससार के झमेलो के चक्कर मे नहीं फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवी शताब्दी के शुरू के दिन थे। कुछ ही दिनों मे हमारा वह संसार मिटने को था—इसलिए कि ऐसे दूसरे संसार को जगह मिले जो दुनियाँ

के युवकों के लिए मृत्यु और विनाश एवं पीड़ा तथा दिली रंज से भरा हुआ हो। लेकिन उन दिनों यह संसार भविष्य के परदे में छिपा हुआ था और हमें अपने चारों तरफ एक सुनिश्चित तथा उन्नतिशील व्यवस्था दिखाई देती थी जो उन लोगों के लिए, जो उसमें रह सकते थे, आनन्द-प्रद थी।

"मैंने भोगवाद तथा वैसे ही दूसरी और अन्य अनेक भावनाओं की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनों मेरे ऊपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मैंने उन दिनों इन विषयों पर भलीभांति साफ तौर पर विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टता निश्चित विचार करने की कोशिश करने की जरूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट तरंगें मात्र थीं जो मेरे मन में उठा करती थीं और जिन्होंने अपने इसी दौरान में अपना थोड़ा या अधिक प्रभाव मेरे ऊपर अंकित कर दिया। इन बातों के ध्यान के बारे में मैं उन दिनों ऐसा परेशान नहीं होता था। उन दिनों तो मेरी जिन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ एक चीज ऐसी जरूर थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राजनैतिक कशमकश। कैम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डाला उनमें मैरीडिथ टाउनसैण्ड की "एशिया और यूरोप" (Asia and Europe) मुख्य है।

"१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानों उबलता रहा। १८५७ के गदर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक के कार्यकलाप और कारावास की तथा अरविंद घोष की खबरों से और बंगाल की जनता जिस ढंग से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञाएँ ले रही थी, उनसे इंगलैण्ड में रहने वाले तमाम हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना

किसी अपवाद के तिलक दल या गरम दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

"कैम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे, उनकी एक सोसाइटी थी। जिसका नाम था मजलिस। इस मजलिस में हम लोग अक्सर राजनीतिक मामलों पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसें कुछ हद तक बेवजूद थीं। पार्लियामेंट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी, उतनी विषय को समझने की नहीं। मैं अक्सर मजलिस में जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहाँ शायद ही बोला होऊं। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नहीं कर सका। कालेज में "मग्पी और स्टम्प" नाम की जो वाद-विवाद की सभा थी, उसमें भी मुझे उसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ता था।

"मुझे यह याद है कि एडविन माण्टेगु जो पीछे जाकर भारत मंत्री हो गये थे, अक्सर इस सभा मे आया करते थे। वह ट्रिनटी कालेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों कैम्ब्रिज की ओर से पार्लियामेंट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन भाषा मैंने उन्हीं से सुनी थी। जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नहीं हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है। क्योंकि तुम्हारी तर्क शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अंधश्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञानों के अध्ययन का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनो जिस तरह अपने सिद्धांतों और निश्चयों को लाकलाम समझता था, वैसा ही समझने लगा था। क्योंकि उन्नीसवी और बीसवीं सदी के शुरू के विज्ञान को आजकल के विज्ञान के बखिलाफ अपने निर्णयों की बाबत और संसार की बाबत बड़ा इतमीनान था।

"मजलिस में और निजी बातचीत मे हिन्दुस्तान की राजनीति पर

बहस करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लाते थे यहाँ तक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे, उनकी भी तारीफ करते थे। लेकिन पीछे मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इण्डियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर गंभीर वकील, तथा ऐसे ही लोग बन गये। इन आराम-गृह के आग बबूलों में से विरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

"हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतज्ञों ने कैम्ब्रिज में हम लोगों के पास आने की कृपा की थी। हम उनकी इज्जत तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानो हम उनसे बड़े हैं। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी शिक्षा-दीक्षा उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी, और हम चीजों को उनसे व्यापक रूप में देख सकते थे। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमें विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपाल-कृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपने एक बैठने के कमरे में मिले, वहाँ हम सिर्फ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होंने इतनी जोर-जोर से बातें कीं, मानों वह दस हजार की सभा में भाषण दे रहे हों। उनकी आवाज इतनी भयानक थी कि मैं उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लाला जी ने हमसे अधिक विवेकपूर्ण ढंग से बातचीत की और उनकी बातों का मुझ पर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र के मुकाबले में मुझे लाला जी का भाषण अधिक अच्छा लगा। इससे वह बड़े खुश हुए। क्योंकि उन दिनों उन्हें बंगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नहीं लगते थे। गोखले ने कैम्ब्रिज में एक सार्वजनिक सभा में भाषण किया उस भाषण की मुझे सिर्फ यही खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हाल में खड़े होकर उन्होंने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये। यहाँ तक कि हममें से बहुतों को यही याद नहीं रहा कि

सवाल शुरू किस तरह हुआ और वह किस सम्बन्ध में था ।

"हिन्दुस्तानियों में हरदयाल का बड़ा नाम था । लेकिन वह मेरे कैंम्ब्रिज में पहुंचने से कुछ समय पहले आक्सफोर्ड में थे । अपने हैरो के दिनों में मैं उनसे लन्दन में एक या दो बार मिला था ।

"कैंम्ब्रिज में मेरे समकालीनों में से कई ऐसे निकले, जिन्होंने आगे न जाकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लिया । जे० एम० सेन गुप्त मेरे कैंम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये । सैफुद्दीन किचलू सैयद महमूद और तसद्दुक अहमद शेरवानी कम-बढ़ मेरे समकालीन थे । एस० एम० सेलेमान भी, जो इन दिनों इलाहाबाद के हाईकोर्ट के चीफ-जस्टिस हैं, मेरे समय में कैंम्ब्रिज में थे । मेरे दूसरे समकालीनों में से कोई मिनिस्टर बना और कोई इण्डियन सिविल सर्विस का सदस्य बना ।"

"लंदन में हम श्याम जी कृष्ण वर्मा और अनेक इण्डिया हाउस की बाबत भी सुना करते थे । लेकिन न तो वह कभी मुझे मिले, और न मैं कभी उस हाउस में ही गया । कभी-कभी हमें उनका "इण्डियन सोशलाजिस्ट" नाम का अखबार देखने को मिल जाता था । बहुत दिनों बाद सन् १९२६ में श्याम जी मुझे जिनेवा में मिले थे । उनकी जेबें "इण्डियन सोशलाजिस्ट" की पुरानी कापियों से भरी पड़ी थीं । और वह प्रायः हर एक हिन्दुस्तानी के पास जाता था, ब्रिटिश सरकार का भेदिया समझते थे ।

"लंदन में इण्डिया आफिस में मैंने विद्यार्थियों के लिये एक केन्द्र खोला था । इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इनमें बहुत कुछ सचाई भी थी फिर भी यह बहुत से हिन्दुस्तानियों को बरदाश्त करना पड़ता था, चाहे मन से हो या बेमन हो । क्योंकि उसकी सिफारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय में दाखिल होना गैर मुमकिन है

गया था।

"हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने मेरे पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी हालांकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नहीं था। यह स्वाभाविक था कि माडरेटों में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें से बहुत से वकालत में उनके साथी थे। उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम दल वालों की तीव्र आलोचना की थी। वह संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति भी बन गए थे। १६०७ में जिस समय सूरत कांग्रेस में गोल माल होकर वह भंग हुई और अन्त में सोलहों आना माडरेटों की हो गई, उस समय वहाँ वह उपस्थित थे।"

"सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच०डब्ल्यू० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद में पिता जी के अतिथि बनकर रहे। उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिता जी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानों की खातिर तवाजो को छोड़कर और सब बातों में माडरेट हैं।" उनका यह अन्दाज बतई गलत था कि उनके पिता जी अपनी राजनीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे। और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको बची-खुची नरमी से भी भगा दिया। प्रचण्ड भावों प्रबल विकारों, घोर अभिमान और महती इच्छा शक्ति से सम्पन्न वहां माडरेटों की जात से वह बहुत ही दूर थे। फिर भी १६०७ और १६०८ में और कुछ साल बाद तक बेशक माडरेटों में भी माडरेट थे। और गरम दल के सख्त खिलाफ थे। हालांकि मेरा खयाल है कि वह तिलक की तारीफ करते थे।

"ऐसा क्यों था? कानून और विधि विधान ही उनके बुनियादी पाये थे। सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें

यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तब तक होता जाता नही जब तक कि इन शब्दों के मुताबिक काम न हो और उन्हें किसी कारण काम की कोई संभावना नजदीक में दिखाई नहीं देती थी। उनको यह नहीं मालूम होता था कि विदेशियों के बहिष्कार के अन्दोलन हमें बहुत दूर तक लेजा सकेंगे। इसके अलावा इन आन्दोलनों की पुश्त में वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की ओर आशा नही लगाते थे। ऐसी बातों को न तो यह कुछ समझते ही थे न इनसे कोई उन्हें हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुत से पुराने सामाजिक रीतिरिवाजों को, जात-पांत वगैरा को, वह कतई ना पसन्द करते थे, और उन्हें उन्नति विरोधी समझते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी। पाश्चात्य ढंगकी उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था, और वह समझते थे कि वह ऐसी उन्नति हमारे देश में इंगलैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है। १६०७ में हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से जरूर पीछे घसीटने वाला था। हिन्दुस्तान की नयी राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह, अवश्य ही धार्मिकता को लिए हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टि-कोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ मुट्ठी भर मनुष्य थे जिनका आम जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज उस ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वह जाति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकने वाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए छोटे-छोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

"माडरेटों के साथ अपना भाग्य भिड़ाकर पिताजी ने आक्रमक ढंग अख्त्यार किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़कर अधिकांश गरम दल वाले नौजवान थे। और पिता जी को इस बात से बहुत चिढ

थी कि ये कल के छोकरे अपने मन माफिक काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे, जिन लोगों को वह बेवकूफ समझते थे, उनको तो फूटी आंख भी नहीं देख सकते थे। और इसलिए वह जब कभी मौका मिलता उन पर टूट पड़ते थे। मेरा खयाल है कि कैम्ब्रिज छोड़ देने के बाद मैंने उनका लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक गुस्ताखाना खत लिखा जिसमें मैंने यह भी झलकाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कार्यवाहियों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश होगी। यह एक ऐसी बात थी कि जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच नाराज हुए भी, उन्होंने करीब करीब यहाँ तक सोच लिया था कि मुझे फौरन इंगलैण्ड से वापस बुला लें।

"जब मैं कैम्ब्रिज में रहता था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौनसा कैरियर चुनना चाहिये। कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनों उसमें एक खास आकर्षण था। परन्तु चूंकि न तो पिता जी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे और न मैं ही। वह विचार छोड़ दिया गया। मेरा खयाल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मैं उस इम्तिहान में बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन चार साल और वहां ठहरना पड़ता। मैंने कैम्ब्रिज में जब अपनी डिग्री ली तब मैं बीस बरस का था और उन दिनों इण्डियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की म्याद २२ बरस से लेकर २४ बरस तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंगलैण्ड मे एक साल और बिताना पड़ता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंगलैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गए थे और चाहते थे कि मैं जल्द ही घर लौट आऊं। मेरे पिताजी पर एक बात का और भी जोर पड़ा और वह यह बात थी कि अगर मैं आई०सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिता

जी और मां दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मैं उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

"यह अजीब बात है कि राजनीति में गरम दल की ओर झुकाव बढ़ता जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन मशीन का एक पुरजा बनने के खयाल को मैंने ऐसा बुरा नहीं समझा। आगे के सालों में इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

"१६१०में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं कैम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान मे मुझे मामूली सफलता मिली, दूसरे दर्जे मे मैं सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन मे इधर-उधर घूमता रहा। मेरी कानून की पढ़ाई मे बहुत समय नही लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद एक दूसरे इम्तिहान मे मैं पास होता रहा। हा, उसमे न तो मुझे सम्मान मिला, न अपमान। बाकी वक्त मैंने यो ही बिताया। कुछ आम किताबें पढी, फैबियन और साम्यवादी विचारो की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनो के राजनैतिक आन्दोलन मे भी दिलचस्पी ली। आयरलैण्ड और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलनों मे मेरी खास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १६१० की गरमी में आयरलैण्ड गया तो सिनफिन आन्दोलन की शुरूआत ने मुझे अपनी तरफ खीचा था।

"इन्ही दिनो मुझे हैरो के पुराने दोस्तो के साथ रहने का मौका मिला और उनके साथ मेरी आदतें खर्चीली हो गई थीं। पिता जी मुझे खर्च को काफी रुपया भेजते थे। लेकिन मैं अक्सर उससे भी ज्यादा खर्च कर डालता था। इसीलिए उन्हें मेरे बारे में बड़ी चिंता हो गई थी, क्योंकि उन्हें अंदेशा था कि कही बुरे रास्ते तो नही पड़ गया हूँ। परन्तु मैं दरहकीकत ऐसी कोई खास बात नही कर रहा था। मैं तो सिर्फ, उन खुशहाल परन्तु कुछ हद तक खाली दिमाग अंग्रेजों की नकल कर रहा

था। जो "मैन प्रबाउट टाउन" कहलाते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश्यहीन आराम तलबी की जिन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नहीं हुई। मेरे पहले के हौंसले ठण्डे पड़ने लगे। और खाली एक चीज जो बढ़ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

"छुट्टियों में मैंने कभी-कभी यूरोप के जुदा-जुदा देशों की भी सैर की। १६०६ की गरमी में जब काउन्ट जैपलिन "अपने नये हवाई जहाज में कौंसटेन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड़कर बर्लिन आये तब मैं और पिताजी दोनों वहीं थे। मेरा खयाल है कि यह उसकी सबसे पहली और लम्बी उड़ान थी इसलिये उस अवसर पर बड़ी खुशी मनाई गई और खुद कैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टैम्पिलौफ फील्ड में जो भीड़ इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। जैपलिन ठीक समय पर आकर बड़ी वफादारी के साथ हमारे आस-पास चक्कर लगाने लगा। एडला होटल ने उस दिन अपने सब निवासियों को काउन्ट जैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेंट किया था। वह चित्र अब तक मेरे पास है।

"कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज देखा जो उस शहर पर पहले पहल उड़ा और जिसने एफिल टावर के चक्कर पहले पहल लगाए। मेरा ख्याल है कि उड़ाके का नाम काण्टे डिलैम्बर्ट था। अठारह बरस बाद जब लिंडबर्ग अटलांटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड़कर पैरिस आया तब भी मैं वहाँ था।

"१६१० में कैम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद जब मैं नार्वे सैर-सपाटे के लिए गया हुआ था तब मैं बाल-बाल बच गया। हम लोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए थे एक छोटे से होटल में अपने मुकाम पर पहुंचे और गरमी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसी ने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि

हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः मेज की या मुँह पोछने की छोटी-छोटी तौलियाओं से जो होटल ने हमें उदारता-पूर्वक प्रदान की थीं, सुसज्जित होकर हममें से दो-एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज, पड़ौस के हिम सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफानी धारा में जा पहुंचे। मैं पानी मे धुस गया। वह गहरा तो न था लेकिन ठण्डा इतना था कि हाथ-पैर जमे जाते थे। और उसकी जमीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपट कर गिर गया। बरफ की तरह ठण्डे पानी से मेरे हाथ पैर निर्जीव हो गए। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गए और मेरे पैर जम न सके। तूफानी धारा मुझे तेजी से बहाए ले जा रही थी, परन्तु मेरे अंग्रेज साथी ने किसी तरह बाहर निकाल कर मेरे साथ भागना शुरू किया और अंत मे मेरा पैर पकड़ने मे कामयाब होकर उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमे यह मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे मे थे। क्योंकि हमसे दो-तीन सौ गज की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी, जिसका जल प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय बात थी।

"१९१२ की गर्मी मे मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी साल शरद् ऋतु मे कोई सात साल से ज्यादा इंगलैंड में रहने के बाद आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनों में दो बार मैं घर गया था। परन्तु अब मैं हमेशा के लिये लौटा और मुझे भय है कि जब मैं बम्बई उतरा तो कुछ ऐसा अभिमानी था कि मेरे कद्र किये जाने की बहुत कम गुंजाइश थी।"

क्रान्ति की पुकार

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।
अथचेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।

हे अर्जुन, पुरुषत्व से हटकर नपुंसक न बनो, ऐसा करना तुम्हें शोभा नहीं देता। अतः हे परमतपस्वी ! हृदय की कमजोरी को दूर कर उठ।

और यदि युद्ध को अपना धर्म मानकर इसमें न लगोगे तो अपने धर्म और कीर्ति को नष्ट करके पाप के भागी बनोगे।

कृष्ण की त्रेता युगीन यह भावना अंग्रेजी साम्राज्य-विरोधी अभियान में नेहरू में अवतरित हुई और उन्होंने भारत के युवा अर्जुनों को धर्म युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाने को पुकारा।

"नवयुवक का काम है कि वह समाज में क्रांति के गतिशील तत्व को प्रदान करे, जो कुछ बुरा है उसके विरुद्ध झंडा उठाये और पुरानी जहनियत के लोगों को जो अपनी जड़ता के भार से सामाजिक प्रगति और आंदोलन को रोकते हैं उन्हें ऐसा करने से रोके।

—जवाहरलाल नेहरू

हमारे चरित नायक श्री नेहरू इस देश के सबसे अधिक युवकप्रिय नेता हैं। आज बुढ़ापे मे भी वही नौजवानों की सबसे अधिक अपील करते हैं। इसलिये अन्य नेताओं के मुकाबले में उन्होंने ही सबसे ज्यादा नवयुवकों और छात्रों को सबोधित किया है। आजादी से पहले और आजादी के बाद दोनों कालों मे यही स्थिति रही है।

आजादी से पहले देश मे परतंत्रता के कारण नेहरू ने क्रांति का शख फूंका और आजादी के बाद नई-नई राष्ट्रीय समस्याएँ खड़ी हो जाने से उन्होंने नवयुवकों को राष्ट्रीय कर्त्तव्यों और दायित्वों से परिचित कराया।

आजादी से पहले उन्होंने देश के नवयुवकों से साम्राज्यवाद के शिकंजों से राष्ट्र को मुक्त कराने के लिए न केवल मार्मिक अपीलें कीं, बल्कि उन्हे जोश से भर कर लाखों की संख्या में संघर्षशील पल्टन की शक्ल में स्वतन्त्रता-संग्राम में ला खड़ा किया। देश का कोई ऐसा कोना

न था, जहाँ नेहरू की क्रांतिकारी वाणी ने अंग्रेजियत के नशे में डूबे भारतीय नवयुवकों को देश भक्ति की भावनाओं से पूरित करके राष्ट्रीय भावनाओं का अग्रदूत न बना दिया हो। नेहरू नवयुवकों के लिये राजनैतिक क्रांति के निशान बन गये थे। उनके एक-एक भाषण में बिजली की कड़क थी, जिसे नौजवान सीने अपने में समोकर हँसते-हँसते मौत की रस्सी चूमने के लिये तैयार हो जाते थे। उनके ओठों पर हर वक्त यह भावना गाने के रूप में रहती थी :

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए कातिल में है।

सर फिरे नौजवान स्कूलों और कालिजों से निकल आये थे, और अपने माँ-बाप के आँसुओं की चिंता न करके स्वतंत्रता-यज्ञ में आत्माहुति देकर राष्ट्रीय आंदोलन की जोत को जगाये रखने के लिये बेचैन थे। मौत जब फूल से भी अधिक सुन्दर लगने लगे और आदमी उसे हर समय अपने ओठों और कंठ से लगाये रखे, वह दृश्य मानवीय जीवन का सबसे प्यारा दृश्य होता है। भयंकरता में सुन्दरता का न केवल अनुभव करना बल्कि उसे अपने जीवन का सबसे अधिक प्रगाढ़तम अंग बना लेना मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि है। इस सिद्धि के सामने श्रेष्ठ सिद्धि और नव ऋद्धि बिल्कुल हल्की-फुल्की नज़र आती हैं। और यह सिद्धि जब नये खून से भरपूर नई उम्र के मुँह पर नये सूरज की ललाई सी दीप्त हो जाये, तो वह ऐसी अनुपम छवि बनती है जिसका वर्णन बड़े से बड़े कवि के लिये करना भी असम्भव है, वहाँ तुलसी की यह चौपाई फ़िट होती है : गिरा अनयन, नयन बिनु बानी।

नौजवान चेहरों पर सिद्धि की इस दीप्ति के लाने में नेहरू का ज़बर्दस्त हाथ है। गांधी की पुकार यदि देश की आत्मा की पुकार बन गई थी, तो नेहरू की पुकार रण-भेरि बन गई थी। रण-भेरि के बजते ही जैसे समराङ्गण में सूरमाओं के सीने लहराते हुए समुद्र से भी अधिक

जोशीले हो जाते है, उसी तरह नेहरू की पुकार पर हिंदुस्तान के नौजवान दिल काली मौत की छाया को अपने में समोकर काले भैंसे पर सवार कुठारहस्त निर्भय यम के शौर्य-सौंदर्य से मंडित हो जाते थे।

इस रण-भेरि की एक ध्वनि पूना में १२ दिसम्बर १६२८ को बम्बई प्रेसिडेंसी के युवक सम्मेलन में भी सुनाई दी थी। श्री नेहरू ने कहा था :

"यदि तुम में से कोई यह विश्वास करता है कि हम सत्ताधारियों से अधिकार मीठे तर्कों और बहसों से ले सकते हैं, तो मैं यही कह सकता हूँ कि तुमने न तो इतिहास अच्छी तरह से पढ़ा है और न भारत की हाल की घटनाओं पर अधिक ध्यान दिया है। हमारे सामने जो समस्या है, वह है ताक़त को लड़कर जीतने की। हम अपनी कौंसिलो और असेम्बलियों मे देखते हैं कि वहाँ पर तर्क और बहस की बाहरी तड़क-भड़क होती है, और उस पर भी सरकारी प्रवक्ताओं का रवैया बहुधा अपमानजनक और असह्य होता है, वहाँ पर होने वाले बढ़िया भाषण, चाहे वे सख्त से सख्त शब्दों से भरपूर हों, सत्ता की कुर्सी पर कोई प्रभाव नही डालते। किन्तु आप खेतों मे और बाजारों मे जाओ तो आप देखोगे कि जहाँ-जहाँ जनता और सरकार की इच्छाओं मे टक्कर है, वहाँ लोग कितने भी शांत क्यों न हों, सरकार जनता को बहस और दलील से नही समझाती, बल्कि बन्दूकों के कुंदो, पुलिस के डंडों, गोलियों और कभी-कभी फौजी कानून से दबाती है। ऐसी परस्थिति मे बुनियादी तथ्य बन्दूक और डंडा होते हैं। सर्द लोहे और सूखी लकड़ी (हृदयहीन) के सामने आपके तर्क और मीठी बहस कैसे काम करे ? अगर तुम (हृदयहीनों से) जीतना चाहते हो तो तुम्हें दूसरे तरीके इस्तेमाल करने पड़ेंगे, मुकाबले मे आने वाले बन्दूकों के कुंदों और डंडों से भी बड़े और शक्तिशाली तरीके अपनाने पड़ेंगे।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि श्री नेहरू का तत्कालीन असेम्बलियों

और कौंसिलों में यकीन नहीं रहा था। उनका यकीन तो क्या रहता, उनके पिता श्री मोतीलाल नेहरू, जो अपने समय के बहुत बड़े विधान-वेत्ता थे, भी वैधानिक तरीकों से ऊब गये थे। यद्यपि असेम्बली ने १९२८ में साइमन कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया और उसके बाद असेम्बली के प्रेज़ीडेंट और सरकार के बीच एक संघर्ष भी हुआ, जिससे 'स्वराजिस्ट' प्रेज़ीडेंट विट्ठल भाई पटेल सरकार की आँखों में पूरी तरह खटकने लगे, किन्तु ऐसी जनप्रिय घटनायें कितनी थीं ? जनता का ध्यान असेम्बली की कार्रवाई पर न जाकर बाहरी घटनाओं पर ही रहता था। श्री नेहरू ने 'मेरी कहानी' में असेम्बली की गति-हीनता की अच्छी चित्र-छवियाँ दी हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है : "असेम्बली, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहने वाली हो गई थी और उसकी बेलुत्फ़ कार्रवाइयों में शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जब भगतसिंह और बी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी से उस सभा भवन के फ़र्श पर दो बम फेंक दिये, तब एक दिन झटके की तरह एकाएक उसकी नींद खुली। किसी को सख्त चोट नहीं आई, और शायद बम इसी इरादे से फेंके गये थे, जैसा कि मुल्जिम ने बाद में बयान किया था, कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसी को चोट पहुंचाई जाय।

श्री नेहरू नौजवानों का ध्यान देश की दयनीय स्थिति की ओर आकृष्ट करना चाहते थे। उनका मंशा था कि नौजवान विदेशी शासन के अत्याचारों का डट कर मुकाबला करें और पुलिस की लाठियों और गोलियों को परास्त कर दें। नेहरू की इस ललकार का तत्कालीन नई पीढ़ी पर असर पड़ा और वह सड़कों पर इस नारे के साथ निकल आई :

नहीं रखनी, नहीं रखनी,
ज़ालिम सरकार, नहीं रखनी।

पर यहाँ एक बात और साफ़ कर देनी ज़रूरी है। वह यह कि श्री

नेहरू आतंककारियों की गतिविधियों से सहमत न थे। वह जन-आंदोलन के हक में थे, छुटपुट या संगठित आतंकवादी कार्रवाइयाँ उन्हें पसन्द न थीं। साथ ही वह गाँधी जी के खादी प्रचार या इसी तरह के सुधारात्मक आंदोलन को स्वतन्त्रता-आंदोलन का महत्वपूर्ण भाग नहीं मानते थे। इस चीज का उन्होंने कई जगह उल्लेख किया है, पर गाँधी जी के पीछे देश की जनता का बहाव था, गाँधी का हर कार्यक्रम जन-समर्पित था, इसलिए उससे बचना कठिन था। फिर बाद को नेहरू ने महसूस किया कि गाँधी के सुधारवादी लगने वाले कार्यक्रम क्रान्ति भावनाओं से भरपूर हैं। नेहरू ने समय आने पर नवयुवकों को यह बात समझाई थी।

श्री नेहरू नई पीढ़ी के दिमाग में साम्राज्यवादी कालिमा का नक़्शा बैठा कर उसे देश की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आज़ादी के लिये कटिबद्ध कर देना चाहते थे। वह चाहते थे कि नौजवान और छात्र पहले देश की आज़ादी के मतलब को सही तौर पर जान जायें और फिर विदेशी बन्धनों को काट डालें। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय संस्कृति के स्वरूप को अच्छी तरह समझाया।

बम्बई प्रेज़िडेंसी नव-युवक सम्मेलन में जिस दौर में नेहरू ने भाषण किया था, उस समय देश मे नरम और गरम दलों की ज़बर्दस्त टकराहट थी। कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में पिता-पुत्र (मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू) मे भी काफी तनाव हो गया था। मज़दूर आंदोलन में भी प्रगतिशील तत्व, साम्राज्यवाद—विरोधी तत्व, भी आगे बढ़ रहे थे। गरम दल से वहाँ भी टकराहट थी। यह साल मज़दूरों के संघर्षों और हड़तालों का साल था। मज़दूर अपनी आर्थिक उन्नति के लिये बढ़ते जा रहे थे। देश में नया जोश था। इसी पृष्ठ-भूमि मे श्री नेहरू ने नवयुवकों को क्रांति-पथ पर बढ़ते जाने की पुकार दी।

> उन्होंने कहा "जनता की आवाज़ तभी उठेगी, जब कि तुम उनके सामने एक ऐसा आदर्श और एक ऐसा कार्यक्रम रखोगे जिससे

उनकी आर्थिक स्थिति सुधरे। अगर लक्ष्य संघर्ष और कुर्बानी करने के योग्य है, तो जनता की आवाज उठने के बाद कर्म की लहर आयगी।

"मेरे सूबे यू० पी० के गवर्नर ने अपने पूर्ववर्तियों की परम्पराओं का पालन करते हुए अवध के तालुकेदारों को यह सलाह दी कि वे अपने दोस्तों का चुनाव बड़ी अक़्लमन्दी से करें। मैं भी आप लोगों को हार्दिकता के साथ वही सलाह दूंगा, यह बात दूसरी है कि तुम्हारा और मेरा मित्र सम्बन्धी चयन गवर्नर हेली से बिल्कुल जुदा होगा। अपने दोस्तों और साथियों को चुनते समय तुम्हें यह देखना होगा कि देश में कौन से तत्व महत्वपूर्ण हैं और कौन-कौन सी पार्टियां हैं; हिन्दुस्तान की आजादी से किस-किस को फ़ायदा होगा और कौन वे हैं जो आपके देश में ब्रिटिश शोषण से लाभ उठाते हैं। इसमें से पहले तत्त्वों को चुन लो और दूसरे तत्त्वों को खुश करने अथवा जीतने की कोशिश करने में अपना समय और शक्ति बेकार मत करो। सबसे ज्यादा देश की जनता—किसान और औद्योगिक मजदूर—के साथ मैत्री भाव रखो और आजाद हिन्दुस्तान का अपने दिमाग में नक्शा बनाते वक्त इन्हीं की भाषा में सोचो। और यदि आप ऐसा करते हैं तो आप सुधारवाद के गड्ढों और टुच्चे समझौतों से खुद ब-खुद बच जायेंगे। तुम्हारी नाड़ी वास्तविकता को पहचान कर चलेगी और तुम्हारा कार्यक्रम जनता की भावनाओं की मंजूरी के साथ जीता जागता कार्यक्रम होगा और जनता के लिये आजादी के मायने अनिवार्य रूप से अंग्रेजों के तथा अन्यों के शोषण का खातमा होंगे। इसका मतलब यह हुआ कि हिन्दुस्तान की आजादी और हिन्दुस्तानी समाज का पूर्ण निर्माण सामाजिक और आर्थिक समानता के आधार पर होगा।"

"हिन्दुस्तान की आजादी हम सभी को प्यारी है। किन्तु यहाँ

पर बहुत से ऐसे लोग होंगे जिन्हें जीवन की सामान्य सुविधायें प्राप्त हैं और उन्हें आसानी से भोजन मिल जाता है। आजादी की हमारी आकांक्षा शरीर की अपेक्षा मन से अधिक सम्बन्धित है, यद्यपि हमारे शरीर भी आजादी के अभाव से बहुधा पीड़ित रहते हैं। हमारे देश के असख्य लोग भूख और घोरतम गरीबी, खाली पेट और नंगी कमर का दृश्य उपस्थित करते हैं, उनके लिये आजादी एक बड़ी शारीरिक आवश्यकता है। आज़ादी पाने का उनके लिये मतलब है खाना, कपड़ा और जीवन की साधारण सुविधायें। हिन्दुस्तान की सबसे अचरज भरी और दर्द भरी चीज है उसकी गरीबी। यह गरीबी न परमात्मा की दी हुई है और न समाज की अनिवार्य देन। यदि विदेशी हुकूमत और हमारे अपने आदमी अच्छी चीज़ों को एक ओर न सरका कर और जनता को उसके अपने भागों से वंचित न करे तो भारत मां के पास अपने तमाम बच्चों के लिये काफी सामग्री है। रस्किन ने कहा है, 'गरीबी निर्धनों की स्वाभाविक हीनता अथवा परमात्मा के भेद-भाव पूर्ण नियमो के कारण नहीं आती, वह तो इसलिये आती है कि दूसरे लोग गरीबों की जेबें काट लेते हैं।' जब कुछ लोग धन का नियन्त्रण करते हैं, तो उससे अनेकों की न केवल खुशी छिनती है बल्कि लोगों के दिमाग पर एक ऐसा असर हावी होता है कि वे आजादी की चाहना ही छोड देते हैं। मानसिक दृष्टिकोण गरीबो और पीडितो को लगड़ा कर देता है और आप लोगो को पराजयवाद की इस मनोवृति के खिलाफ लडना है।

"आप लोग हिन्दुस्तान के युवक आदोलनों के नेता रहे हैं और आपने एक मजबूत और जीता-जागता संगठन बनाया है। लेकिन एक बात याद रखिये कि संगठन और संस्थायें मनुष्य के गति-हीन साधन हैं, उनमें उसी समय जीवन और स्फूर्ति आती है जबकि वे बड़े-बड़े आदर्शों और विचारों से प्रेरित होते हैं। अपने सामने

बड़े आदर्श रक्खें और छोटे-छोटे समझौतों से उन आदर्शों के ध्वजों को मत झुकाओ अपनी नजरें वहाँ डालो जहाँ खेत-खलिहानों में और कारखानों में लाखों लोग मेहनत कर रहे हैं और हिन्दुस्तान की सीमाओं के पार भी अपनी दृष्टि पसारो जहाँ आप जैसे ही दूसरे लोग आपकी समस्याओं से मिलते-जुलते मसलों का सामना कर रहे हैं। अपनी पुरानी भारत माँ की आजादी के लिये काम करने वाले बेटे और बेटियों, राष्ट्रीय बनो; नौजवान रिपब्लिक के सदस्यों, अन्तरराष्ट्रीय बनो, तुम्हारी रिपब्लिक राज्य सीमाओं अथवा सीमान्तों अथवा जातियों में यकीन नहीं करती और संसार को अन्याय से छुटकारा दिलाने का काम करती है। बहुत अरसा पहले एक फ्रांसीसी ने कहा था, 'बड़े-बड़े काम करने के लिये एक आदमी को इस तरह रहना चाहिये कि जिस तरह से उसे सदा अमर रहना है।' हममें से हर एक को मरना है, लेकिन जवानी मौत का ख्याल नहीं करती। बूढ़े और बुजुर्ग अपने जीवन को बचे-खुचे चन्द सालों के लिये काम करते हैं; नौजवान सब युगों के लिये काम करते हैं।

क्रांति के लिये नेहरू का यह आह्वान भारत की आजादी के युद्ध का एकदम बिगुल जैसा है।"

सबलायें बनें

सुश्रूषस्व गुरून् कुरुप्रियसखी वृत्तिं सपत्नी जने।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः॥
भाग्येष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयोवामाः कुलस्याधयः॥

सास-ससुर की सेवा करना, देवरानी जेठानी के प्रियसखी का सा बर्ताव पति के अपराध पर भी रुष्ट होकर उसके विरुद्ध न चलना, अपने भाग्य का गर्व न करना ऐसा करने से स्त्रियां गृहस्वामिनी का पद पाती हैं, इसके विरुद्ध चलने वाली कुल की व्याधियां कहलाती हैं।

यह है नारी का घरेलू रूप, श्री नेहरू उसका देश की आजादी के लिये आवाहन करते हैं, उसके सबला दुर्गा रूप की कामना करते हैं।

भारत की महिलाएं अपने पूर्ण अधिकार भारतीय पुरुषों की उदारता से नही प्राप्त कर सकेंगी । उन्हें उन अधिकारो के लिये लडना पड़ेगा और अपनी सफलता के लिये पुरुष वर्ग पर अपनी इच्छा थोपनी पड़ेगी ।'

—जवाहरलाल नेहरू

३१ मार्च १९२८ को जो श्री नेहरू ने प्रयाग के महिला विद्यापीठ के विशाल कमरे (हॉल) का शिलान्यास करते हुए कहा कि मेरी दिलचस्पी महिलाओं की शिक्षा और उनके अधिकारो में रही है ।

श्री नेहरू ने आगे कहा कि भारत की वर्तमान स्थित महिलाओं की सामाजिक प्रतिष्ठा से आंकी जायगी और भारत के भावी *स्थितिकी महिलाओ की परिस्थिति से जाँची जायगी। किसी भी सामाज* अथवा राष्ट्र की प्रगति का मापदण्ड उस समाज की महिलाओं से जानी जाती है । आज हमारे समाज मे जो महिलाओ की दशा है, मैं उससे बहुत ज्यादा असंतुष्ट हूँ । हम सीता और सावित्री के बारे मे बहुत कुछ सुनते हैं । उनके नाम भारत में प्रतिष्ठत हैं और ऐसा होना ठीक भी है । किन्तु मेरी एक भावना है कि ये भूतकालीन प्रति ध्वनि वर्तमान कमियों को छुपाने के लिये और हमें आज के भारत

में महिलाओं की गिरावट के मूल कारण को जानने से रोकने के लिये की जाती हैं।

हमारे चरितनायक ने यह बात बड़ी भावनात्मक शैली में कही कि यह कह दिया जाता है कि आदमी का काम रोटी कमाकर लाना है और औरत का स्थान घर में है, उसका आदर्श तो एक पतिव्रता पत्नी होना चाहिये, उससे अधिक नहीं। उसकी मुख्य खुशी होशियारी से बच्चों का लालन-पालन और बड़ों की सेवा में होनी चाहिये। मैं कहूँ कि नारियों की इस जिंदगी अथवा शिक्षा से मैं सहमत नहीं हूँ। इसके मायने क्या हैं? इसके अर्थ हैं कि नारी का केवल एक धंधा है और वह है केवल विवाह का धंधा, और काम केवल यह रह जाता है कि हम उसे इस धंधे के लिये प्रशिक्षित कर दें। इस धंधे में भी उनकी स्थिति दूसरे दर्जे पर रह जाती है। वह अपने पति की निष्ठावती सहयोगिनी, अनुव्रती और आज्ञाकारिणी धर्मपत्नी आदि है। क्या आपमें से किसी ने इबसन का 'गुड़ियों का हार' पढ़ा है; अगर पढ़ा है तो आपको 'गुड़िया' शब्द नारी की इस परिस्थिति के संदर्भ में अच्छा लगेगा।

अपने इस विचार पर बल देते हुए श्रीनेहरू ने आगे कहा कि भारत का भविष्य गुड़ियों और खिलौनों से नहीं बन सकता, और यदि आप एक देश की आधी आबादी दूसरी आधी आबादी का खिलौना, या बोझ, बना दो, तो आप कैसे उन्नति करोगे? इसलिये मैं कहता हूँ कि तुम्हें समस्या का सामना साहस के साथ करना चाहिये और बुराई की जड़ पर हमला करना चाहिये। हमारे यहाँ पर्दा एवं बाल विवाह की प्रथाएं हैं, तथा अनेक क्षेत्रों में महिलाओं को अधिकार नहीं दिये जाते हैं। किसी भी देश में जाइये वहाँ आपको लड़के तथा लड़कियों के चेहरों पर चमक मिलेगी, वहाँ के लड़के और लड़कियाँ खेल-कूद के काम तथा अन्य साधनों से अपने तन

मन का विकास करते हैं। हमारे यहाँ उसी आयु के बच्चे पर्दे में रखे जाते हैं, करीब-करीब उन्हें कफ़स में, पिंजड़े में बंद रखा जाता है, और बहुत बड़ी मात्रा मे उन्हें आज़ादी नही दी जाती है। उनकी शादी उसी मौके पर कर दी जाती है, जबकि वे शारीरिक और बौद्धिक रूप से विकासावस्था में होते हैं और इस तरह उनकी ज़िंदगी खराब कर दी जाती है।

"यदि यह विद्यापीठ महिलाओं की उन्नति का व्रती है, तो उसे इन बुराइयो पर आक्रमण करना चाहिये। किन्तु मैं यहां उपस्थित महिलाओं को बता दूँ कि कोई भी राष्ट्र, वर्ग, जाति, देश दमनकारी की उदारता से अपनी कमियों से छुटकारा पा चुका है? भारत उस समय तक आज़ाद नही होगा, जब तक कि हम अपनी इच्छा उस पर लादने के योग्य न हो जायें, और भारतीय महिलाएं अपने पुरुषों की उदारता मात्र से अपने पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त कर सकेंगी। उन्हें उन अधिकारों के लिये लड़ना पड़ेगा और अपनी सफलता के लिये पुरुष वर्ग पर अपनी इच्छा लादनी पड़ेगी।

"मैं आशा करता हूँ कि यह विद्यापीठ प्रांत तथा देश में ऐसी महिलाएं आगे ला सकेगा, जो युग के अन्याय पूर्ण, ज़ालिमाना सामाजिक रिवाजों के प्रति विद्रोह भाव रखती हैं, और जो उन तमाम लोगो से लड़ेंगी, जो इस प्रगति का विरोध करती हैं और जो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुषों के समान देश की सैनिक हैं।"

श्री नेहरू ने बंगाल छात्र कान्फ्रेन्स में भी छात्राओं के उद्बोधन की ललकार की थी। इस प्रकार की पुकार उन्होंने समय पर दी। उनका यह विद्रोही उद्बोधन उनके घरेलू वातावरण पर भी छाया हुआ था। कराची कांग्रेस के बाद नेहरू अपने परिवार के साथ लंका गये थे और वहाँ के बाद वह हैदराबाद गये। उनके अपने शब्दों में एक मनोरंजक घटना इस तरह है, "हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी

लड़कियों पद्मजा और लीलामणि से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिये कुछ पर्दानशीन स्त्रियां उन्हीं के मकान पर इकट्ठा हो गईं और शायद कमला ने उनके सामने कोई भाषण दिया। उसका भाषण संभवतः पुरुषों के बनाये हुए कानूनों और रिवाजों के खिलाफ स्त्रियों के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे में था, और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषों से बहुत न दबें। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बड़ा नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि आपके यहाँ आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। वह पहले की तरह मेरी बात नहीं सुनती, न मेरी बात मानती है, बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्तियार कर लेती है।"

गाँधी जी जब लंदन गोलमेज कान्फ्रेंस में गये थे, इधर हिंदुस्तान में गिरफ्तारियां हो रही थीं। सारे हिंदुस्तान में अनेक संस्थाएं गैर-कानूनी घोषित कर दी गईं थीं। नेहरू ने अपने परिवार की महिलाओं का तत्कालीन चित्र इस तरह खींचा है: "बंबई में मेरी पत्नी बीमार पड़ी थी, और आंदोलन में हिस्सा न ले सकने के कारण छट-पटा रही थी। मेरी माता जी और दोनों बहनें जोश-खरोश के साथ आंदोलन में कूद पड़ीं। मेरी दोनों बहनों को जल्दी ही एक-एक साल की सजा मिल गई और वे जेल पहुँच गईं। नये आने वालों के जरिये या हमें मिलने वाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी खबरें मिल जाया करती थीं। जो कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सरकारी सेंसर की बड़ी सख्ती थी, और समाचार पत्रों और समचार-एजेंसियों को भारी-भारी जुर्मानों का डर हमेशा बना रहता था।

१९३२ के प्रारंभिक महीनों में अंग्रेज अपने को प्रजातंत्रवादी और कांग्रेस को डिक्टेटर जतला कर तरह-तरह का प्रचार करने लगे थे। इस प्रचार में औरतों को लेकर कांग्रेस को खूब बदनाम किया गया था। नेहरू के

शब्दों में, "न जाने कैसे सरकार को यह खयाल हो गया कि कांग्रेस जेलों को औरतों से भर कर अपनी लड़ाई में उनका इस्तेमाल करना चाहती है। क्योंकि कांग्रेस वाले समझते होंगे कि औरतों के साथ अच्छा वर्ताव किया जायगा या उनको थोड़ी सज़ा दी जायगी। यह खयाल बिलकुल बेबुनियाद था। ऐसा कौन है, जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलों में धकेली जायें ? मामूली तौर पर लड़कियों और औरतों ने हमारी लड़ाई मे क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयो या पतियों की इच्छा के विरुद्ध ही लिया, किसी की हालत में उन्हें अपने घर के मर्दों का पूरा सहयोग नही मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लंबी-लंबी सजायें देकर और जेलों मे बुरा वर्ताव करके स्त्रियों को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहनों की गिरफ़्तारी के बाद फौरन कुछ नौजवान लड़कियां, जिनमें से ज्यादा तर पन्द्रह या सोलह बरस की थी, इलाहाबाद में इस बात पर गौर करने के लिये इकट्ठी हुई अब क्या करना चाहिये। उन्हें कोई तजुर्बा तो था नहीं। हां, उनमें जोश भरा हुआ था और वे यह सलाह लेना चाहती थी कि हम क्या करें। लेकिन जबकि वे एक प्राइवेट घर मे बैठी हुई बातें कर रही थीं, गिरफ्तार करली गई और हरेकको दो-दो साल की सख्त कैद की सज़ा दी गई। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओ में से एक थी जो उन दिनों रोज-ब-रोज़ हिंदुस्तान भर में हो रही थी। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सज़ा मिली, उनमें से ज्यादातर को बहुत तकलीफें बरदाश्त करनी पड़ीं। उन्हें मर्दों तक से भी ज्यादा तकलीफें भुगतनी पड़ीं। यों मैंने ऐसी कई दुःखदाई मिसालें सुनीं, लेकिन मीरा बहन ने बम्बई की एक जेल मे अपने तथा अपने साथी कैदी दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों के साथ होने वाले व्यवहार का जो वर्णन किया, वह सब को मात करने वाला था।"

इसी वर्ष ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक चले राष्ट्रीय सप्ताह मे इलाहाबाद मे निकली एक महिला-जलूस मे नेहरू की माता जी श्रीमती स्व-

नतीजों की रत्ती भर परवा न करता।

"धीरे-धीरे वह चंगी हो गईं और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल मे मुझसे मिलने आईं तब उनके सिर पर पट्टी बँधी थी। लेकिन उन्हे इस बात की बडी भारी खुशी और गर्व था कि वह अपने स्वयंसेवक लडके और लड़कियों के साथ बेंतो और लाठियों की मार खाने के विशेष लाभ से महरूम न रही।"

नेहरू द्वारा अंकित इन शब्द चित्रो मे उनकी माँ, बहिनों और पत्नी का ज्वलत स्वरूप आया है। ऐसी माँ का बेटा, ऐसी बहिनो को भाई और ऐसी पत्नी का पति नारी-दासता के प्रतिविद्रोही भावना ही रख सकता था। नेहरू-परिवार परस्पर प्रभावित होकर चला है, सबने एक दूसरे से ज्यादा कुर्बानियां देने की कोशिशें की हैं। इसीलिए भारतीय आज़ादी की लड़ाई मे इस परिवार का नाम शीर्ष पर आता है। इसी परिवार की बेटी, जवाहर लाल नेहरू की आत्मजा, इन्दिरा आज देश की सबसे बडी राजनैतिक संस्था अ. भा. कांग्रेस कमेटी की अध्यक्षा हैं। इसी परिवार की पुत्री श्री नेहरू की बहिन, श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित अपने देश का सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका में कूट-नीतिक प्रतिनिधित्व करने के बाद आज कल ब्रिटेन मे भारत की हाई-कमिश्नर हैं। वह संयुक्त राष्ट्रसंघकी प्रथम नारी अध्यक्षा रह चुकी हैं। देश की छात्राओ और नवयुवतियों के नाम नेहरू का क्रांति उद्‌बोधन 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' जैसा नही रहा है। वे उन लोगों में से रहे हैं, "जे आचरहिं, ते नर न धनेरे।"

आज़ादी के बाद श्री नेहरू ने जहाँ नारियों को कर्मक्षेत्र में रहने की सलाह दी है, वहाँ उन्हे माँ का स्वरूप को कायम रखने को भी कहा है। स्वतन्त्र राष्ट्र में यह विचार-परिवर्तन स्वाभाविक है। (ये विचार आगे 'माँ का प्रशिक्षण' नामक अध्याय में पढ़ियेगा)

विचारों के अवतार

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैः नहयैर्न पदातिभिः ।
कार्यं संसिद्धमभ्येति यथा बुद्धया प्रसाधितम् ॥

न शस्त्रों से, न हाथियों से, न घोड़ों से, न पैदल सेना से ही ऐसा कार्य सिद्ध होता है, जैसा कि बुद्धि से किया हुआ कार्य सिद्ध होता है।

बुद्धि बनती है सद्विचारों से, और इन विचारों को श्री नेहरू ने अवतारों की संज्ञा दी है।

"आज के अवतार वे महान विचार हैं, जिनसे दुनिया का सुधार होता है। और इस युग का विचार सामाजिक समानता है। आओ, हम इस विचार को सुनें और दुनिया को बदलने और उसे रहने की बेहतर जगह बनाने के लिए इस विचार के साधन बन जायें।"

जवाहर लाल नेहरू—

२२ सितम्बर १९२८ को कलकत्ता में अखिल बंग छात्र सम्मेलन हुआ। इसमें श्री नेहरू ने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए नौ-जवानों को पुरानी वैचारिक जंजीरें तोड़कर एक नई दुनिया का निर्माण करने के लिए कृत संकल्प हो जाने को कहा।

हिन्दुस्तान के इतिहास में यह दौर विक्षोभ का और उथल-पुथल का दौर था। नौजवानों और मज़दूरों में एक नई जाग पैदा हो गई थी पढ़े लिखे लोगों में समाजवादी विचार धारा की चर्चा होने लगी थी। सोवियत रूस का भारत के वातावरण पर प्रभाव पड़ रहा था। मार्क्सवादी विचार धारा भारत में अपना असर जमाती जा रही थी। उसके प्रभाव स्वरूप जमींदारी प्रथा और सब प्रकार के सामंतवादी प्रभावों का धीरे-धीरे विरोध हो रहा था। इस नई लहर का पुराने ख़याल के लोग तेज़ी से विरोध करने लग गये थे। श्री नेहरू ने अपने संदर्भ में इस दौर का चित्र इस तरह खींचा है, "मेरा ख्याल है कि १९२८ में मैं चार

सूबों की राजनैतिक कान्फ्रेंसों का सभापति बना। ये सूबे दक्षिण में मलाबार और उत्तर में पंजाब दिल्ली और संयुक्त प्रान्त थे। इसके अलावा बम्बई और बंगाल में मैं युवक-संघों और विद्यार्थियों की कान्फ्रेंसों का सभापति बना। वक्तन बवक्तन् मैं सयुक्तप्रान्त के देहातमें भी गया और कभी-कभी कारखानों के मजदूरों की सभाओं में भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानों का सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था। यद्यपि उसका रूप मुकामी हालतों के मुताबिक बदल जाता था, और जिन बातों पर मैं जोर देता था वे इस तरह की होती थी कि जिस किस्म के लोग सभाओं में होते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आजादी और समाजिक स्वाधीनता पर जोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आजादी समाजिक स्वाधीनता की सीढ़ी है। यानि, आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने के लिए यह जरूरी है कि पहले राजनैतिक आजादी हो। खास तौर से कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और पढ़े-लिखे लोगों में मैं समाजवाद की विचारधारा फैलाना चाहता था। क्योंकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ़ थे और यही निहायत संकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानों में प्राचीन काल के गौरव पर बहुत जोर दिया जाता था। और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमें क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियाँ पहुँचाई हैं। हमारे लोगों को घोर कष्ट सहने पड़ रहे हैं; हमारे ऊपर दूसरों का राज्य रहना बड़ी बेइज्जती की बात है; इसलिए हमारी क़ौमी इज्जत यह चाहती है कि हम आजाद हों और हमारे लिए आवश्यक है कि हम लोग मातृभूमि की वेदी पर अपनी बलि दें। ये बातें सुपरिचित थी। हर हिन्दुस्तानी के दिल में आवाज गूंज उठती थी। मेरे मन में भी राष्ट्रीयता का यह भाव भड़क उठता था और मैं उस से गद्गद् हो जाता था, यद्यपि मैं हिन्दुस्तान के ही नहीं, कहीं के भी पुराने जमाने का अन्धा प्रशंसक कभी नहीं रहा। लेकिन यद्यपि उनमें सच्चाई जरूर थी, फिर भी बार-बार इस्तेमाल में आने की वजह से वे बासी और लचर होती जाती थीं और उनको लगातार बार-बार दुहराते

रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लड़ाई के सबसे ज्यादा जरूरी पहलुओं तथा दूसरे मसलों पर गौर नहीं कर पाते थे। इन बातों से जोश जरूर आता था, लेकिन उनसे विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।"

नेहरू का मंशा यह था कि लोग अपनी भूतकालीन अच्छी परम्पराओं को समझें तो सही, समझ कर उन्हें आत्मसात् भी करें पर हर समय उनकी रट लगायें, यह ठीक नहीं नवयुवकों को युग-सत्यों को पहचान कर आगे बढ़ना चाहिये। और साहस के साथ समाज को भी आगे बढ़ना चाहिये। नेहरू में इस सिलसिले में बड़ी कसक थी, और इसी कसक में वे अधिक से अधिक काम करते। इस दौर में अपनी मानसिक स्थिति की चर्चा उन्होंने यों की है :

"१९२८ के पिछले छः महीनों में और १९२९ में मेरी गिरफ्तारी की चर्चा अक्सर होती थी। मुझे पता नहीं कि इस सिलसिले में अखबारों में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और ऐसे दोस्तों को जो मालूम पड़ता था कि जिस बात को वे कहते हैं उसकी बाबत अच्छी तरह जानते हैं, मुझे जो निजी चेतावनियां मिला करती थीं उनके पीछे असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक किस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी वक्त गिरफ्तार हो सकता हूँ। मुझे खास तौर पर दूसरी कोई चिन्ता न थी; क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए कुछ भी हो, लेकिन मेरी जिन्दगी रोजमर्रा के कामों की निश्चित जिन्दगी नहीं हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चितता का और एकाएक होने वाले हेरफेरों का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊँ उतना ही अच्छा है! और मेरा ख्याल है कि कुल मिलाकर मैं इस खयाल का आदी होने में सफल हुआ। मेरे घरवालों ने भी इस खयाल के आदी होने में कामयाबी हासिल की, हालांकि जितनी कामयाबी मुझे मिली उन्हें उससे बहुत कम

मिली। इसलिये जब-जब मैं गिरफ्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमें खास बात मालूम नहीं हुई। हाँ, अगर मैं एकाएक गिरफ्तार होने के खयाल का आदी न होता तो ऐसा न होता इस तरह गिरफ्तारी की खबरों में नुकसान ही नुकसान न था, फायदा भी था। उन्होंने मेरी रोजमर्रा की जिन्दगी में कुछ जोश और तीखापन पैदा कर दिया था। आजादी का हर एक दिन बेशकीमत मालूम होने लगा, मानों वह दिन मुनाफे में मिला हो। सच वाक्या तो यह है कि १६२८ और १६२ में मैं जी भर कर काम करता रहा और आखिर में मेरी गिरफ्तारी १६३० के अप्रैल में जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैं ने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूँ जो थोड़े दिनों के लिये वहाँ आया हूँ। इसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योंकि कोई भी यह नहीं कह सकता था कि मेरे लिये कल क्या होने वाला है यह आशंका तो हर वक्त बनी रहती थी कौन जाने जेलमें वापस जानेका बुलावा कब आ जाय।"

ये दोनों उद्धहरण श्री नेहरू की अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' के हैं। इनमें देश और नेहरू की मनः स्थिति का पता चलता है। जहाँ देश में आज़ाद होने की बेचैनी पनप रही थी, वहाँ स्वयं श्री नेहरू देश को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की रोशनी में हिन्दुस्तान को आगे ले जाने के लिये उतावले थे। इस उतावलेपन में एक स्पष्ट विचारधारा भी थी। नेहरू समाजवाद और विश्व की निकटता के लक्ष्य को अपने मन और मस्तिष्क में सारतौर से रखे हुये थे और देश की गतिशील शक्तियों को उसी लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ने रहने के लिए प्रेरित कर रहे थे। बंगाल के छात्रों के सम्मेलन में इसी भाव और उद्देश्य को बड़ी तड़प के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि देश की प्रगति के लिये सब से पहली जरूरी चीज यह है कि हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता के बीच में खड़ी हुई

मानवीय और प्रान्तीय सीमायें तथा दीवारें गिरा दी जायें। यहीं तक नहीं उन्होंने छात्रों को विभक्त करने वाली सीमाओं को भी गिराने के लिये पुकारा। उन्होने बताया कि प्रथम विश्वयुद्ध में स्वार्थी लोगों ने इन्सानियत का बेड़ा गरक कर दिया और लाखों जवानों को मौत के घाट उतार दिया। नौजवानों ठीक तौर पर उस चीजकर जांच कर, पहचानकर दुनिया को नये सिरे से नये विचारधारा के आधार पर आगे बढाने का बीडा उठाया था। नौजवानोंने यह महसूस किया कि दुनिया मे असली शाति लाने के लिये मानवीय भेद-भाव और आर्थिक विषमता को दूर करना होगा। इसी समय रूस में लेनिन के नेतृत्व में एक जबरदस्त राजनैतिक-आर्थिक क्रान्ति हुई जिसने समूचे विश्व का और विशेषकर नौजवानों और मजदूरों का ध्यान खीचा। रूसी क्राति का प्रभाव नेहरू के दिल दिमाग पर भी पड़ा और उन्होंने अपने देश के प्रगतिशील तत्वों से इस क्रांति की विचारधारा को समझने के लिए कहा। नेहरू की उस दौर में यह उत्कट इच्छा थी कि हिन्दुस्तान का नौजवान सारी दुनिया के नौजवानों के साथ मिलकर एक युवक राष्ट्रकुल बनाये और यह राष्ट्रकुल समूचे विश्व का फेडरेशन की आधारशिला बन जाय।

श्री नेहरू ने बंगाल के छात्रों और उनके माध्यम से तमाम हिन्दुस्तान के छात्रों से अपनी विचारधारा स्पष्ट करने के लिये कहा। उनकी मंशा थी कि यदि नई पीढी एक बार एक सुस्पष्ट विचारधारा से मंडित हो जाये तो अपनी तेज और तड़पती हुई बिजली जैसी ताक़त द्वारा वह जल्दी ही संसार के राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ढांचे में परिवर्तन ला सकती है।

नेहरू ने इस बात पर ज्यादा से ज्यादा बल दिया कि तमाम दुनिया से हर प्रकार के शोषण को जड़मूल से उखाड़ फेंक दिया जाय और गरीबी, पामाली, भुखमरी, और अशिक्षा के जहर को

खत्म करके समाजवाद के अमृतमय मेघों की वर्षा से धोकर उसे सदा के लिये प्रफुल्लित कर दिया जाय। समाजवाद की व्याख्या करते हुए नेहरू ने यह भी साफ किया कि वह साम्यवाद के आधार पर बने हुये समाज को आदर्श समाज नही मानते लेकिन फिर भी वह साम्राज्यवादी देशों द्वारा सोवियत रूस के साथ किये जा रहे दुर्व्यहार को अच्छी नजरों से नही देखते थे। उन्होंने कहा कि अपनी कई गलतियों के बावजूद सोवियत रूस आज साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा विरोधी है और पूर्व के राष्ट्रों के साथ उसका व्यवहार न्यायपूर्ण है। श्री नेहरू ने नई वैज्ञानिक शक्तियों को मानव हित के लिए ज्यादा से ज्यादा प्रयुक्त करने पर जोर दिया और इस बात को खुले तौर पर कहा कि ऐसा समाजवाद की स्थापना पर ही सम्भव हो सकेगा।

हमारा देश आज भी रूढ़िवाद और धर्मांधता की बेड़ियों में काफी हद तक जकड़ा हुआ है। हम कल्पना कर सकते हैं कि आज से तीन दशकपूर्व हमारे देश की कितनी जड़ स्थिति रही होगी यद्यपि देश के सांस्कृतिक जागरण का कार्य हमारे अनेक मनीषी अपने हाथों में ले चुके थे और देश के हर भाग में रूढ़िवाद पर कठोर प्रहार करके संस्कृति के ऊँचे स्वरूप का प्रचार कर रहे थे, फिर भी देश अपने धार्मिक दृष्टिकोण में जड़ ही थी। नेहरू उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने विज्ञान की नई रोशनी में अपने रूप को पहिचानने के लिए प्रेरणा दी। उन्होंने बारम्बार इस बात पर बल दिया कि विज्ञान ने पुरानी मान्यताओं को काफी पीछे दूर छोड़ दिया है और संसार को नई मानवता-मूलक संस्कृति की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी है। श्री नेहरू ने कहा कि बैलगाड़ियों में सफ़र करने का जब जमाना लद चुका तो बैलगाड़ियों के जमाने की रूढ़ियों में हम क्यों जकड़े रहे? उन्होंने कहा कि धर्म हर युग की परिस्थितियों में नया रूप धारण करता है, इसलिए हम वैज्ञानिक युग की नई परिस्थितियों में अपने

धर्म की मान्यताओं को देखें, परखें, और प्रतिष्ठापित करें। उन्होंने कहा कि हर जमाने के अवतारों और पैगम्बरों ने भी यही सीख दी है। महात्मा बुद्ध ने अपने जमाने में पाखण्डों के विरुद्ध आवाज उठा कर सामाजिक समानता का उपदेश दिया था। ईसा ने भी अपने दौर में इसी प्रकार का विद्रोह किया था, और मुसलमानों के पैगम्बर मोहम्मद ने भी पुरानी रूढ़ियों को तोड़ फेंका था। वे लोग वास्तविकता वादी थे और उन्होंने जहाँ-जहाँ वास्तविक धर्म की गति को रूढ़ियों से रुकते देखा, वहीं-वहीं रूढ़ियों को निर्दयता के साथ काट डाला। नेहरू ने कहा कि आज के युग में अवतारों और पैगम्बरों की मान्यता नहीं रही आजके अवतार तो आज के महान् विचार हैं, और इन विचारों में शीर्ष स्थान है समाजवाद का, सामाजिक समानता का। श्री नेहरू ने जोर देकर कहा कि पुरानी अच्छी मान्यताओं को स्वीकार करके नवयुवकों को समाजवादी विचारधारा के अनुसार देश और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में नवनिर्माण करना चाहिये। उन्होंने कहा कि इसके लिए उन्हें निर्भयता से रहना सीखना चाहिये। सुरक्षा और स्थायित्व की तलाश बुजुर्गों का काम है, नौजवानों का काम जिन्दगी में साहस के साथ नई-नई खोज करना है।

इस पीढ़ी के सबसे बड़े भारतीय नेता नेहरू ने नवयुवकों से मुखातिब होते हुए अन्त में कहा, "आप और मैं भारतीय हैं, और भारत के प्रति हम ऋणी हैं, किन्तु हम मानव भी हैं, इसलिये मानवता के प्रति भी हमारा ऋण है। आओ, हम युवकों के राष्ट्रकुल अथवा साम्राज्य के नागरिक बन जायें। यही केवल एक ऐसा साम्राज्य है जिसके प्रति हम अपनी निष्ठा अर्पित कर सकते हैं, क्योंकि युवकों का यह राष्ट्रकुल भावी विश्व फैडरेशन का अग्रसूचक बनेगा।"

नेहरू के विचारों से यह प्रतिभासित होता है कि उन्होंने जिस स्पष्ट दृष्टि से देश के स्वतन्त्रता-संग्राम का नेतृत्व किया, वह

दृष्टि संघर्षों के तूफानों को चीरती हुई और हर दौर के आंदोलनों से नई रोशनी ग्रहण करती हुई आगे बढ़ती आई है। नेहरू का हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई में एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने भारत को अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं का जागरूक द्रष्टा बनाया। हिंदुस्तान का छात्र-आंदोलन भी उनकी इस छाप का ऋणी है। उनकी प्रेरणा से अखिल भारतीय छात्र सम्मेलन के पहले ही अधिवेशन में साम्राज्यवादी युद्धों के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ था। हमारा छात्र और युवक आन्दोलन नेहरू की इस छाप से चित्रित होकर अपने अगले अधिवेशन में भी अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करता रहा और बाद को हमारे युवकसंगठन अनेक तरह से अंतर्राष्ट्रीय रंग में रंगे गये। नेहरू को जब कोई अवतार कहता है तो वह चिढ़ जाते हैं, लेकिन उनके विचार नई पीढ़ी के लिये अवश्य ही 'अवतार' बन गये हैं।

नये भारत की कल्पना

अपायसन्दर्शनजां विपत्तिमुपायसन्दर्शनजां च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीतिविदः प्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ॥

नीतितत्ववेत्ता बुद्धिमान पुरुष सन्धि-विग्रह आदि उपायों का ठीक प्रकार से उपयोग न करने से तथा नीतिशास्त्र विरुद्ध मार्ग का अनुसरण करने से होने वाली विपत्ति (राज्य, धन आदि की हानि) को, तथा नीति-शास्त्र प्रतिपादित संधि विग्रह आदि उपायों का यथाविधि उपयोग करने से होने वाली राज्य और धन की प्राप्ति शत्रुनाश आदि निश्चित सिद्धि को सामने नाचती हुई सी प्रदर्शित कर देते हैं।

यह वर्णन श्री नेहरू के बारे में एक दम सही है। उन्होंने आजादी से पूर्व नवभारत की कल्पना छात्रों के सामने प्रत्यक्ष दृश्य की भाँति रख दी थी।

"मैं नये भारत की बात राजनैतिक स्वतंत्रता की भाषा में नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि वह तो आनी ही आनी है। भारत के सामने तुरन्त प्रश्न चालीस करोड़ लोगों के असन-वसन और आवास का है।"

—जवाहरलाल नेहरू

गांधी जी और नेहरू जी के नेतृत्व में कांग्रेस देश को आज़ादी की मंजिल की ओर बढ़ाती चली जा रही थी। '३०-३१ के आंदोलनों में अन्य वर्गों के साथ-साथ युवा वर्ग ने भी खूब भाग लिया था। '३७ में कांग्रेस ने प्रांतीय असेम्बलियों के चुनाव लड़े, जिन्हें जीत कर उसने मन्त्रि-मण्डल बनाये। इन चुनावों में भी शहर और गांव की नई पीढ़ी ने बड़े जोश के साथ काम किया था। कांग्रेसी, समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराओं के नवयुवक अपने-अपने राजनैतिक विचारों का अलग-अलग प्रचार करते हुए भी कांग्रेस की शक्ति को अग्रसर करते थे। स्कूलों, कालिजों और विश्वविद्यालयों में नवयुवा वर्ग राष्ट्रीय भावनाओं में विभिन्न राजनैतिक मतवादों के रंग भरने लग गये थे, पर स्वतंत्रता-संग्रामों के मोर्चे पर अधिकांशतया सभी साथ-साथ कदम बढ़ाते थे। '४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह में भी युवकों ने भाग लिया था, किन्तु उनकी भावनाओं का खुलकर प्रस्फुटीकरण '४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में हुआ। यह आंदोलन हिन्दुस्तान के नौजवानों को राष्ट्रीय भावनाओं का

प्रतीक-सा बन गया है। इसके बाद छात्रों ने अनेक स्थानों पर बड़े-बड़े आंदोलन किये, किन्तु इस जैसा वेग बाद को नहीं आया।

इसके कई कारण हैं। कम्युनिस्ट विचार धारा के युवक कुछ अलग-अलग हो गये और मुस्लिम लीग की पृथकतावादी नीति के कारण मुस्लिम छात्र अपना क्षेत्र खुले रूप से बनाने लगे तो हिन्दू राष्ट्रीयता का विचारधारा से प्रभावित हिन्दू छात्र अपने संगठन अलग-अलग खड़े करने लगे। देखा-देखी अन्य सम्प्रदाय और जातियाँ भी अपने-अपने युवक संगठन अलग-अलग बनाने लगीं। है यह बड़ी विचित्र और असंगत बात। हिन्दुस्तान की आज़ादी का जहाज़ ज्यों-ज्यों किनारे की ओर आ रहा था, त्यों-त्यों साम्प्रदायिक शक्तियाँ विषैले साँपों की तरह राष्ट्र पर फन-प्रहार करने लगी थीं। देश की राजनीति में जब ऐसी विसंगति थी, तब देश से बाहर देश के दूसरे लाड़ले पूत सुभाषचन्द्रबोस ने फौजी जवानों की मदद से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम का एक अत्यन्त ज्वलंत स्वरूप प्रस्तुत किया। आज़ाद हिंद फौज के हारने और 'आज़ाद हिंद हकूमत' के टूटने के बाद वहाँ के जवानों के आने से देश में राष्ट्रीयता की एक नई लहर चली, और सुभाष बोस की राष्ट्रवादी परंपराओं को आगे बढ़ाने वाली विचारधारा से नई पीढ़ी अत्यन्त प्रभावित भी हुई, किन्तु यह हवा भी साम्प्रदायिक अजगर की फुंकार से विषैली हो गई। आज़ादी से एक वर्ष पहले देश में अजीबो-गरीब वातावरण था। आज़ादी की तमन्नाओं से देश का दिल भरा हुआ था, आज़ादी निकट आती हुई राष्ट्र दिखाई भी दे रही थी, पर राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ संकीर्णता की बेड़ियों से बंधने लगीं।

इसी दौर में श्री नेहरू ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के विज्ञान कालेज में वार्षिक दीक्षांत समारोह में भाषण किया था। तारीख थी ६ मार्च, १९४६। इस दीक्षांत समारोह में बहुत बड़ी उपस्थिति थी। पर साम्प्रदायिकता का विष यहाँ भी आ गया था। अनेक मुस्लिम छात्र-संगठनों

ने इस दीक्षांत समारोह का बहिष्कार करने की पुकार लगाई थी।

श्री नेहरू ने इस अवसर पर अपने भाषण में, नई पीढ़ी या नये भारत की कल्पना अपने दिल-दिमाग़ों में भरने के लिये आह्वान किया था : "नये भारत, नये एशिया और नये संसार की कल्पना अपने मानस पटल पर लाओ। मुझे नहीं मालूम कि आपमें से कितने इस मिशन को चरितार्थ होता हुआ देखेंगे। मैं नये भारत की बात राजनैतिक आज़ादी की भाषा में नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि वह तो आनी ही आनी है। भारत के सामने तुरन्त प्रश्न चालीस कोटिजनों के रोटी, कपड़े और मकान का है।

"चालीस करोड़ जनता के रोटी, कपड़े और मकानों का प्रश्न वैज्ञानिक ढगों से हल होना चाहिये, विज्ञान-शक्ति आधुनिक संसार की मातृदेवी शक्ति है।"

श्री नेहरू ने नई पीढ़ी को पूरे देश की सम्पूर्ण प्रजा की बुनियादी समस्याओं को समझने, देखने और हल करने की प्रेरणा दी, क्योंकि रोटी, कपड़ा और मकान तो सभी को चाहियें। इसमें सम्प्रदायों का अन्तर नहीं आता। नेहरू अपने इस विचार को अपने काल के समूचे राष्ट्रीय आंदोलन में समझाते आये थे। इस सम्बन्ध में उनके अनेक भाषण और लेख हैं। उनके एतद्-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर अलग से एक पुस्तक लिखी जा सकती है। उन्होंने एक स्थल पर कहा है, "मुझे यह कहना पड़ता है कि उन हिन्दुओं और मुसलमानों को देखकर मुझे बड़ी दया आती है जो हमेशा पुराने ज़माने का रोना रोया करते हैं। और उन चीज़ों को पकड़ने की कोशिश करते रहते हैं, जो उनके हाथ से खिसकती जा रही है। मैं प्राचीनकाल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिल्कुल ही छोड़ देना चाहता हूँ, क्योंकि हमारे अतीत में बहुत सी बातें हैं जो सुन्दरता में अनुपम हैं। ये सदा रहेंगी, इसमें मुझे सन्देह ही नहीं है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओं को तो

नहीं पकड़ते, बल्कि ऐसी चीजों को पकड़ने दौड़ते हैं, जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती हैं।"

इसी प्रवृत्ति को देखते हुए उन्होंने छात्रों से समस्या के हल में विज्ञान का आश्रय लेने की बात कही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संकीर्ण भावनात्मक दृष्टि उदारता में परिवर्तित हो जाती है।

विज्ञान से संभरित भारत क्या कुछ कर सकेगा, उसके सम्बंध में उन्होंने कहा, "स्वतन्त्र भारत विश्व के अन्य देशों से संपर्क रखेगा। जागृत एशिया में भारत अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण एशिया, दूर पूर्व, मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया में महत्वपूर्ण भाग अदा करेगा।

"ब्रिटिश शासन से पूर्व तमाम एशियाई देश भारत की ओर संस्कृति, व्यापार तथा अन्य उच्च प्रवृत्तियों के लिये देखा करते थे। लेकिन जब अंग्रेज भारत में आ गये तो यातायात और सवहन के सारे साधन उनके हाथ में चले गये, और हिन्दुस्तान नीचे गिरता चला गया।

"आज फिर एक नई हलचल है। लंबे विदेशी शासन से छुटकारा पाकर एशिया धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व को प्राप्त कर रहा है, और इस नये एशिया में भारत अत्यंत महत्वपूर्ण भाग अदा करेगा।"

हमारे राष्ट्रीय नेता ने इस बड़े कैन्वास पर भारत का चित्र खींच कर छात्रों को दूर और सम्यक् दृष्टि प्रदान करनी चाही और छोटे तंग दायरे से उन्हें निकालना चाहा। उनका उस दौर में यह आह्वान सब से बड़ी राष्ट्रीय आवश्यकता थी। स्वतंत्रता-सागर जब लहराने को हो, तब कूप-मंडूक की स्थिति में आ जाने वाले तत्वों को सजग करना बड़ा अनिवार्य था। इस दौर में अपनी दृष्टि को भी सुस्पष्ट कर लेना बड़ा जरूरी था। घर में जब कोई सदैव अतिथि आता है तो समूचा घर साफ किया जाता

है, आतिथेय (मेजबान) अपने तन-मन और सम्पूर्ण वातावरण को स्वच्छ और सजीव बनाता है। और यह तो फिर आजादी आने वाली थी, चिर-प्रतीक्षित आजादी, जिसके अभाव मे अंग्रेजी शासन की डेढ़ सौ साल की गुलामी ने देश और राष्ट्र की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हत्या कर दी थी, हम बिल्कुल दिवालिये जैसे हो गये थे। अंग्रेजी शासन ने बड़ी निर्दयता से हमारे गर्व को खर्च करके मनोवैज्ञानिक रूप से भी हीन बना दिया था। और ऐसी हालत मे आजादी आ रही थी, जिसका मतलब था कि नई जिन्दगी आ रही थी, इस नई जिन्दगी के आने के अवसर पर हम दोषमय दृष्टि का लाँछन लिए हुए थे। इस महत्वपूर्ण अवसर की ओर श्री नेहरू ने इन सुन्दर शब्दों में ध्यान आकृष्ट किया:

'मुझे लगता है कि लिखित इतिहास में ऐसा कोई समय अब तक नही आया, जबकि मानवता के सामने परिवर्तन और रूपान्तर की इतनी अधिक सभावनायें आई हों।

"यह साफ है कि इतिहास का वह दौर, जिसके १५० वर्षों में हम अंग्रेजी दासता मे रहे, खात्मे पर आ रहा है। यह साफ है कि आज हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद खत्म हो चुका है या न्यूनाधिक रूप में खत्म होता जा रहा है और यह भी साफ़ है कि भारत को अब अपनी नीति के अनुसार चलना होगा।"

नेहरू इस अत्यंत महत्वपूर्ण अवसर पर इस नीति को अपने दिमागों में स्पष्ट कर लेने के लिये कह रहे हैं, क्योंकि वही बुद्धिमान होता है जो पहले से ही चीजों को सोच-विचार कर रखे, और छात्रों तथा नई पीढ़ी के लिये तो इस प्रवृत्ति का विकास और भी ज़रूरी है।

इस नीति का सूत्र उन्होंने दे ही दिया है कि विज्ञान द्वारा भारतीय जनता की बुनियादी समस्याओं को हल किया जाय। इस सूत्र में उस समाजवादी विचारधारा की पूरी झलक है, जिसका प्रसार वह दशाब्दियों से करते आ रहे थे, पर स्वयं उन्होंने यहाँ उन शब्दों का प्रयोग नहीं

किया, क्योंकि आज़ादी के एकदम पूर्व इस प्रकार की शब्दावली से उन्होंने संभवतः अनेक तत्त्वों को न बिगाड़ना चाहा हो। आज के दिन तो यह सूत्र एकदम स्पष्ट है। नेहरू लगभग सभी भाषणों में समाजवादी पद्धति की बात बड़े ज़ोर शोर से कर रहे हैं, और समाजवाद के विरोधियों की प्रताड़ना कर रहे हैं। नेहरू ने राजनैतिक आज़ादी को महत्त्व तो सदा दिया था, पर वह आज़ादी के आर्थिक पहलू को कभी अपनी नज़रों से ओझल नहीं होने देते थे, और आर्थिक उन्नति भी वह वैज्ञानिक साधनों द्वारा चाहते रहे थे। नेहरू ने हमेशा यह कहा है कि वैज्ञानिक प्रगति के युग में हम पिछड़े हुए साधनों को इस्तेमाल करके कभी उन्नति-मार्ग पर आरूढ़ नहीं हो सकते। इसीलिए उन्होंने नौजवानों के सामने इस 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने चाहा कि नौजवान अधिक से अधिक विज्ञान का अध्ययन, मनन और चिंतन करके राष्ट्र को वैज्ञानिक और टक्नीकी तौर पर उन्नति करें। उनकी यह आकांक्षा आज भी उतनी ही तीव्र है, जितनी उस समय थी। आज उनकी प्रेरणा से तक्नीकी स्कूल और कालेज खुल रहे हैं। नई पीढ़ी से वह सदा विज्ञान और प्रोद्योग की उन्नति की ही बात करना चाहते हैं। अगले अध्यायों में उनका यह स्वर और भी स्पष्ट रूप में है। पर एक बात वह कभी नहीं भूलते और छात्रों पर उसे सदा स्पष्ट करते हैं। कलकत्ता के इस भाषण में भी उन्होंने उस ओर संकेत किया है, जहाँ वह कहते हैं कि 'ब्रिटिश शासन से पूर्व तमाम एशियाई देश भारत की ओर संस्कृति, व्यापार तथा अन्य उच्च प्रवृत्तियों के लिए देखा करते थे।' नेहरू का कथन है कि अपने देश की भव्य प्राचीन सांस्कृतिक मानवीय परम्पराओं को सदा याद रखना चाहिये, और विज्ञान के साथ उस भावना का समन्वय करके काम का ढंग निकालना चाहिये। नेहरू वैज्ञानिक विकास के साथ-साथ समाज-कल्याण का भी ध्यान रखते हैं। समाज-कल्याण श्रेष्ठ मानवीय प्रवृत्तियों के विकास पर निर्भर है, हीन भावनाओं के आधार पर तो समाज-कल्याण का महल खड़ा हो ही नहीं सकता। आज तो नेहरू इस विचार का अधिक से अधिक प्रचार

कर रहे हैं। विज्ञान के विनाशात्मक पहलू उन्हें कभी पसन्द नहीं रहे। देश की आज़ादी के बाद इस सम्बन्ध में उनके विचार केवल भारत की ही चीज़ नही रहे हैं, अपितु समूचे संसार मे फैल गये हैं, और उनका आदर हो रहा है। विदेशों में, और विशेषकर वहाँ जहाँ युद्ध के कारण ज़िन्दगी ने चोट खाई है, नेहरू के इन विचारों के कारण देश का मान और गौरव है।

नेहरू ने ठीक समय पर ठीक प्रवृति की ओर देश की नई पीढ़ी का ध्यान खीचा था। छात्रों ने उसे समझा-बूझा भी, पर अंग्रेज़ की काली करतूत और सम्प्रदायवादियों के विष के कारण देश-विभाजन के लिये नेहरू और उनके साथियों को तैयार होना पड़ा; और जब देश के टुकड़े होते हैं तो खून बहता ही है। खून बहा, लोगों का होश जाता रहा, नई पीढ़ी भी अपवाद न रही और यहाँ एक बार तो मानवता डूबने सी लगी, पर गाँधी और नेहरू ने देश को होश में रहने के लिये पुकारा। नई पीढ़ी कुछ चेती, कुछ न चेती; और आखिर इस भयानक काले विषधर ने एक बहुत बड़ी आत्मा को निगल कर ही विश्राम लिया।

मेरी यह मान्यता है कि १६४६ मे नेहरू के उद्‌बोधन को, उनके नये भारत की कल्पना को, देश की पूरी पीढ़ी समझ लेती तो उसका समूचा पढ़ा-लिखा सार्थक हो जाता और देश विनाश से बच जाता। यहाँ यह मानना पड़ता है कि शिक्षा का अर्थ साक्षर होना ही नही है, अपितु अपने सस्कारों को बनाना और संवारना भी है। एक बात और भी है, जब पढ़े-लिखे व्यक्ति की बुद्धि विकृत होती है तब वह और भी अधिक अनर्थकारी सिद्ध होती है। एक सस्कृत कवि ने कहा है कि "साक्षरा:" (पढ़े-लिखे) का उल्टा "राक्षसा:" होता है, और उदाहरण में उसने महापडित रावण को पेश किया है। भारतीय राजनीति के इस बड़े तत्व को आज की नई पीढ़ी और आने वाली पीढ़ियों को अपने मन मस्तिष्क में बहुत बड़ा स्थान देना होगा। अपनी भूलों से मनुष्य को सीख कर आगे बढ़ना चाहिये।

लक्ष्य

मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय,
ह्याच्छादय स्वान्गुणान् ।
कीर्ति पालय दुःखिते कुरु,
दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥

अपने गुणों से अपने यश की रक्षा करते हुए पूज्यों में पूज्यभाव, शत्रुओं में विनम्रता, दुखियों से दया का बर्ताव करना सज्जनों का लक्षण बताया गया है।

श्रीनेहरू अपने देश में ऐसे ही सज्जन चाहते हैं।

"……हमारी पीढ़ी के सबसे बड़े आदमी की यह आकांक्षा रही है कि प्रत्येक आँख के प्रत्येक आँसू को पोंछ दिया जाय। ऐसा करना हमारी शक्ति से बाहर हो सकता है, लेकिन जब तक आँसू हैं और पीड़ा है, तब तक हमारा काम पूरा नहीं होगा।"

—जवाहरलाल नेहरू

हमारे देश ने अनेक उत्थान-पतन देखे हैं। युग आये है, जबकि यहाँ की धरती ने सोना उगला है ; और युग आये हैं, जबकि यहाँ का वह सोना विदेशी ले गये हैं, और यहाँ की धरती ने अकाल उगाये हैं। अंग्रेज़ी शासन-काल में हमारा देश दीनता के कठोर चंगुलों में फँसा हुआ था। अंग्रेज़ी शासन-काल के प्रारम्भ में जब अंग्रेज़ों की प्रशासनिक कुशलता से यहाँ का उथल-पुथलमय जीवन कुछ राहत का साँस ले रहा था, उस समय भी "पै धन विदेश चलि जात, यही एक ख्वारी" की भावना भारतीयों के मन में भरी हुई थी। भारत का एक हज़ार वर्ष का इतिहास विकास की अपेक्षा ह्रास का इतिहास रहा है, फिर भी जो विकट दुख की तीव्र अनुभूति अंग्रेजी शासन काल में उसे हुई है, वह पिछले किसी भी शासन काल में नहीं हुई।

अंग्रेज़ों ने हमारे देश को न केवल आर्थिक दृष्टि से ही दिवालिया किया, अपितु उसके समूचे गर्वणीय संस्कारों को ही जड़मूल से ही काट

डाला। अपनी भव्य भूत कालीन परम्पराओं से कटकर उसकी स्थिति दयनीय हो गई : वह साख ही न रही, जिस पं कि अभियाना था। उसकी आँखों में कोटि-कोटि आँसू भर आये, जीवन मनहूसियत का प्रतीक हो गया।

इस सम्बन्धमें २५ जून, १८५३ को न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में 'भारत में ब्रिटिश राज' शीर्षक के अन्तर्गत मार्क्स ने जो लेख लिखा था, उसमें अंग्रेजी शासन की असफलताओं की सूची है। इस लेख का एक अंश इस संदर्भ में उल्लेखनीय है : "अंग्रेजी राज ने पहले हिन्दुस्तान को जो दुख झेलना पड़ा, वह निस्संदेह अंग्रेजों द्वारा दी गई पीडा से निश्चय ही पृथक् और निस्सीम रूप से अधिक तीव्र था।...

"हिंदुस्तान में हुए सभी गृह युद्ध, आक्रमण, विद्रोह, विजय, अकाल, चाहे जितने आश्चर्यजनक रूप से तीव्र और विनाशात्मक लगते हों, लेकिन उनका प्रभाव सत् ही रहा। इंग्लैंड ने भारतीय समाज का संपूर्ण ढाँचा इस तरह तोड़ डाला है कि अब तक उसके पुनः निर्माण के आसार नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। हिंदू (हिंदुस्तानी) की वर्तमान पीड़ा उसका पुरानी दुनिया के खोये जाने से और किसी नई दुनिया के न मिलने से एक विशेष दर्द से जुड़ जाती है, और ब्रिटेन द्वारा शासित भारत अपनी समस्त पुरानी परम्पराओं और अपने समूचे पुराने इतिहास से अलग-थलग हो जाता है।"

ऐसी दुस्सह स्थिति से जब हम १५ अगस्त, १९४७ की प्रथम घड़ी में उबरे, तो हमें अपनी पीड़ाओं और अश्रु-राशियों से उबरने का ध्यान आना अनिवार्य था, और इसी संदर्भ में हमारे प्रधान मंत्री श्रीजवाहरलाल नेहरू ने १४ अगस्त, १९४७ को संविधान परिषद् में देश की जनता को गाँधी जी की आकांक्षा का स्मरण कराया।

जिस समय देश आज़ाद हुआ, उस समय की स्थिति बड़ी भयावह थी। उसका विवरण श्रीनेहरू ने यों किया है : "सारी दुनिया संसार व्यापी युद्ध के परिणामों से पीड़ित है, और मुद्रा स्फीति से, बड़ी कीमतों

से और बेकारी से लोग दुखी हैं। भारत में ये सभी बातें हैं, साथ ही उन विशाल संख्यक भाइयों और बहनों की चिन्ता हम पर है, जोकि अपार कष्टों को झेल रहे हैं और जो अपने घरों से भगाये जाकर, दूसरी जगह नई जिंदगी की खोज में हैं।

"हमें यह लड़ाई लड़नी है अर्थात् आर्थिक संकट के विरुद्ध लड़ाई लड़नी है और बेघरों को बसाना है। इस लड़ाई मे नफरत और हिंसा के लिये जगह नहीं है, बल्कि केवल अपने देश और अपने लोगों की सेवा का भाव है। इस लड़ाई में हर एक भारतवासी सैनिक बन सकता है। व्यक्तियों और समूहों के लिये व्यापक हित को छोड़कर निजी संकीर्ण हितों का ध्यान करने का अवसर नहीं है। यह समय आपस मे झगड़ने और फूट का नहीं है।"

इस सिलसिले में देश के नेता श्री नेहरू ने विशेष रूप से देश के युवकों का आह्वान करते हुए कहा, "देश के युवकों से मैं विशेष रूप से अनुरोध करूंगा, क्योंकि वे आने वाले कल के नेता हैं, उन पर भारत के मान और स्वतंत्रता की रक्षा भार आयगा। मेरी पीढ़ी एक बीतती हुई पीढ़ी है, और शीघ्र ही हम भारत की प्रज्वलित मशाल, जोकि उसकी महान् और सनातन आत्मा का प्रतीक है, युवाहाथों और सुदृढ बाहुओं को सौंप देंगे। मेरी यह कामना है कि वे उसे ऊपर उठाये रक्खें और उसके प्रकाश को कम अथवा धुंधला न होने दें, जिससे कि वह प्रकाश घर-घर में पहुँचकर, हमारी जनता मे श्रद्धा, साहस और समृद्धि उत्पन्न करे।'[१५ अगस्त' ४८ को नई दिल्ली से प्रसारित भाषण]

देश की आज़ादी के साथ-साथ पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापित आँसुओं की बाढ़ लेकर आगये। साम्प्रदायिकता के तूफान ने देश को झकझोर दिया। श्री नेहरू ने प्रयाग विश्वविद्यालय के विशेष दीक्षान्त समारोह में १३ दिसम्बर, १६४७ को भाषण देते हुए कहा :

"……हमें स्वतन्त्रता मिली, वह स्वतन्त्रता जिसे हम बहुत समय से खोज रहे थे, और वह हमें कम से कम हिंसा द्वारा मिली। लेकिन उसके तुरन्त बाद ही हमें खून और आँसू के समुद्र को पार करना पड़ा। खून और आंसू से भी बुरी, उसके साथ आने वाली लज्जा-जनक बातें थीं। उस समय हमारे मूल्य और आदर्श, हमारी पुरानी संस्कृति, हमारी मानवता और अध्यात्म और वह सब कुछ जिसका कि बीते युग में भारत प्रतीक रहा है, कहाँ थे? एकाएक इस भूमि पर अंधकार उतर आया और लोगों पर पागलपन छा गया। भय और घृणा ने हमारे मनों को अंधा कर दिया और वे सारे बंधन, जो हमें सभ्यता सिखाती है, बह गये। दहशत पर दहशत टूटी और मनुष्यों की निर्दय बर्बरता पर हम अचानक सन्नाटे में आ गए। जान पड़ा कि सभी प्रकाश बुझ गए हैं, सब नहीं, क्योंकि कुछ अब भी इस गरजते हुए तूफ़ान में टिमटिमाते रहे। हमने मरों और मरते हुओं के लिये रंज किया, और उन लोगों के लिये भी, जिनकी तकलीफ़ मौत से बढ़कर थी। इससे भी ज्यादा, हमने भारत माता के लिये रंज किया, जो सबकी माँ है, और जिसकी आज़ादी के लिये हमने इतने वर्षों से परिश्रम किया है।

"जान पड़ा कि प्रकाश बुझ गए हैं। लेकिन एक एक ज्योतिमय शिखा जलती रही और अपना प्रकाश फैले हुए अन्धकार पर डालती रही। और उस विशुद्ध शिखा को देख कर हममें शक्ति और आशा लौटी, और हमने अनुभव किया कि जो भी क्षणिक दुर्घटना हमारे लोगों पर आ पड़े, भारत की आत्मा शक्तिशाली और अनुर है, वर्तमान कोलाहल से ऊपर उठी हुई है, और प्रतिदिन की तुच्छ आकस्मिक बातों की चिन्ता नहीं करती। आप लोगों में से कितने इस बात का अनुभव करते हैं कि इन महीनों में भारत के लिए महात्मा गाँधी की उपस्थिति का क्या महत्त्व रहा है? हम सभी

भारत के प्रति और स्वतन्त्रता के लिए पिछली आधी सदी या उससे अधिक समय की उनकी महान् सेवाओं को जानते हैं। लेकिन कोई भी सेवा उतनी महान् नहीं हो सकती, जितनी कि उन्होंने पिछले चार महीनों में की है, जबकि एक मिटती पिघलती दुनिया के बीच वह उद्देश्य की चट्टान और सत्य के प्रकाश स्तम्भ की भाँति बने रहे हैं और उनका दृढ़ मन्द स्वर जनता के कोलाहल से ऊपर उठकर, *उचित पुरुषार्थ का मार्ग दिखाता रहा है।"*

श्री नेहरू ने उस अँधेरे में भी अपने लक्ष्य को अपने नेत्रों से तिरोहित न होने दिया। उनके सामने गाँधी जी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग एक दम साफ था, जिस पर चलने के लिए उन्होंने विद्यार्थियों और युवकों का *आह्वान किया। उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राङ्गण में प्रश्न किया,*

"किस प्रकार के भारत और किस प्रकार के संसार के लिए हम उद्योग कर रहे हैं? क्या घृणा और हिंसा, भय, साम्प्रदायिकता और संकीर्ण प्रान्तीयता हमारे भविष्य का निर्माण करेंगी? कदापि नहीं, यदि हममें और हमारे कथनों में कुछ भी सचाई है।" उन्होंने अपने बाल्य और युवा कालीन आदर्शों की चर्चा करते हुए अपने भाषण को जारी रखते हुए कहा, "यहाँ, इस इलाहाबाद नगर में, जो मुझे केवल अपने निकट सम्पर्कों के कारण ही नहीं, बल्कि भारत के इतिहास में अपना महत्त्व रखने के कारण भी प्रिय रहा है, मेरा बचपन और मेरी जवानी, भारत के भविष्य के स्वप्न देखने और उसकी कल्पना करने में बीती है। क्या उन स्वप्नों में कुछ वास्तविक तत्व भी रहा है, या वह केवल एक ज्वरग्रस्त मस्तिष्क के कल्पना चित्र मात्र रहे हैं? उन स्वप्नों का कुछ थोड़ा हिस्सा सत्य उतरा है, लेकिन जिस रूप में मैंने कल्पना की थी, उस रूप में नहीं, और अभी बहुत अधिक का सत्य होना शेष रह जाता है। जो कुछ हासिल हुआ है, उस पर विजय का अनुभव तो क्या हो—

हमारे आगे एक सूनापन है और हमारे चारों ओर जो कुछ है, वह वेदनामय है, और हमें करोड़ों नेत्रों के आँसू पोंछने हैं।

"एक विश्वविद्यालय का अस्तित्व मानवता, सहिष्णुता, बुद्धि, प्रगति, विचारों के साहसपूर्ण अभियान और सत्य की खोज के लिए होता है। उसका अस्तित्व इस लिए है कि मानव जाति और भी ऊँचे उद्देश्यों की सिद्धि के लिए आगे बढ़े। यदि विश्वविद्यालय अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन करे, तो राष्ट्र और जनता का कल्याण होता है। लेकिन यदि विद्या का मंदिर ही संकीर्ण कट्टरता और क्षुद्र उद्देश्यों का घर बन जाता है, तो राष्ट्र कैसे उन्नति करेगा और जनता कैसे ऊँचे उठेगी ?"

हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक भी अंग जब पंगु हो जाता है तो आँसुओं की बौछारें होने लगती हैं। हमारी समृद्धि का अर्थ न केवल आर्थिक भाषा में ही सोचा जायगा, बल्कि उसकी उपलब्धि साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक नैतिक और राजनैतिक माध्यमों से भी होगी। इस चीज को श्री नेहरू ने अपने इसी भाषण में इस तरह व्यक्त किया है, "हमें अपने राष्ट्रीय ध्येय के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाना चाहिए। हमारा ध्येय एक शक्तिशाली, स्वतन्त्र और जन सत्तात्मक भारत के निर्माण का है, जहाँ प्रत्येक नागरिक को बराबर का स्थान प्राप्त हो, और विकास तथा सेवा के पूरे अवसर हों, जहाँ आजकल प्रचलित धन और हैसियत की विषमताएँ न रह गई हों, यहाँ हमारी मार्मिक प्रेरणाएँ रचनात्मक और सहकारितापूर्ण उद्योग की तरफ केन्द्रित हों। ऐसे भारत में साम्प्रदायिकता, पार्थक्य, अलहदगी, अस्पृश्यता, कट्टरता और मनुष्य द्वारा, मनुष्य से अनुचित लाभ उठाने के लिये कोई स्थान नहीं है, और यद्यपि धर्म के लिए स्वतन्त्रता है, फिर भी उसे राष्ट्रीय जीवन के राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं से हस्तक्षेप न करने दिया जायगा। यदि ऐसा है तो जहाँ तक

हमारे राजनैतिक जीवन का सम्बन्ध है, यह सब हिन्दू और मुसलमान और ईसाई तथा सिख के टंटे दूर होने चाहियें और हमें एक *संयुक्त यानि मिला-जुला राष्ट्र बनाना* चाहिए जहाँ व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनो प्रकार की स्वतन्त्रताएँ सुरक्षित हों।"

मन की मुक्ति

सत्यं तपोज्ञानमहिंसता च
विद्वत्प्रणामं च सुशीलता च ।
एतानि योऽभ्यारमते स विद्वान्
न केवलं यः पठते स विद्वान् ॥

सत्य, तपः, ज्ञान, अहिंसा, विद्वानों का आदर सुशीलता इसका जो आचरण करता है, वही विद्वान है ; केवल पढ़ने वाला व्यक्ति विद्वान नहीं है।

श्री नेहरू पुस्तकीय ज्ञान को अधिक महत्त्व नहीं देते। उनके मत शिक्षा का अर्थ उदार भाव का विकास है, मन की मुक्ति है।

"शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मन को मुक्त करना है, न कि उसे बांधे हुए चौखटों में बंद करना है ।"

—जवाहर लाल नेहरू

हमारी आज़ादी के पहले पाँच वर्ष बड़े उथल-पुथल के थे। साम्प्रदायिक और सकीर्णमतवादी शक्तियों ने पूरी तरह सिर उठाया हुआ था। समाज में विषैली भावनाओं का प्रचार-प्रसार था। युवा वर्ग भी इस दुर्भावना से अछूता नहीं था। श्री नेहरू इस दुर्गम काल में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ढांचे को ठीक करने में लगे थे और युवा वर्ग को राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्रति सचेत कर रहे थे।

इस काल में जब उन्हें २४ जनवरी, १९४९ को उत्तर प्रदेश में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के वार्षिक समावर्तन के अवसर पर भाषण करने के लिये बुलाया गया, तो उन्होंने इस अवसर पर देश-विभाजन के संदर्भ में मुस्लिम छात्रों के मन की थाह ली और अपनी राजनैतिक तथा सामाजिक विचारधारा उन पर पूरी तरह से स्पष्ट कर दी। असंगति के उस युग में श्री नेहरू के इस भाषण का विशेष महत्त्व है।

श्री नेहरू ने इस बात को इस तरह व्यक्त किया : "मैंने आपके उपकुलपति का आमंत्रण बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया है, क्योंकि मैं आपसे मिलना चाहता था और आपके मन की थोड़ी-बहुत थाह लेना चाहता था, और आपको अपने मन की एक झलक देना चाहता था। हमें एक दूसरे को समझना है, और अगर हम

हर एक बात के बारे में सहमत नहीं हो सकते तो कम-से-कम हमें अलग-अलग राय रखने के विषय में सहमत होना है और यह जानना है कि हम किन बातों में सहमत हैं और किन बातों में हमारा मतभेद है।"

श्री नेहरू ने इस समारोह में अपने तौर पर भारत की भूतकालिक संस्कृति और उसकी भावी उन्नति में दृढ़ आस्था प्रकट करते हुए कहा: "मुझे भारत पर गर्व है, न केवल उसकी प्राचीन शानदार विरासत के कारण बल्कि इस कारण भी कि उसमें, अपने मन और आत्मा के कानों और खिड़कियों को दूर देशों से आने वाली ताजी और शक्तिदायिनी हवाओं के प्रति खुला रखने की आश्चर्यजनक सामर्थ्य है। भारत की शक्ति दोहरी रही है: एक तो उसकी अपनी आंतरिक संस्कृति है जोकि युगों में पुष्पित हुई है, दूसरे, और स्रोतों से शिक्षा प्राप्त करके उसे अपना बनाने का सामर्थ्य है। उसकी अपनी धारा इतनी प्रबल है कि वह अन्य धाराओं में डूब नहीं सकती, और उसमें इतनी बुद्धिमत्ता है कि वह अपने को उनसे अलग-अलग नहीं होने देती, इसलिये भारत के सच्चे इतिहास में निरंतर समन्वय दिखाई देता है, और जो अनेक राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं, उन्होंने इस विभिन्न परंतु मूलतः संमिश्र संस्कृति के विकास पर विशेष असर नहीं डाला है।"

इस प्रसंग में प्रधानमंत्री ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्रों से भी सीधा प्रश्न किया है: "मुझे भारत की विरासत पर गर्व है, और अपने पूर्वजों पर भी, जिन्होंने भारत को बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रधानता दिलाई। आप इस विषय में क्या अनुभव करते हैं? क्या आप यह अनुभव करते हैं कि आप भी इसमें साझेदार हैं और इसके उत्तराधिकारी हैं और आपको भी इसी चीज का गर्व है जो समान रूप से आपकी और हमारी है? या आप

अपने को गैर अनुभव करते हैं, और इसे बिना समझे और बिना उस पुलक का अनुभव किये हुए, जो उस अनुभव से उत्पन्न होती है कि हम एक महान् खजाने के, ट्रस्टी और उत्तराधिकारी हैं, उसमें गुज़र जाते हैं।

"मैं यह प्रश्न इसलिए पूछता हूँ कि हाल के वर्षों में बहुत सी शक्तियाँ काम करती रही हैं, जिन्होंने लोगों के मन को अनुचित मार्गों में खींचा है और इतिहास के क्रम को उलटने का प्रयत्न किया है। आप मुसलमान हैं और मैं एक हिन्दू हूँ। हम भिन्न-भिन्न धर्मों का अनुसरण करें, यहाँ तक कि किसी धर्म का अनुसरण न करें, लेकिन इससे उस सांस्कृतिक विरासत में, जो आपकी भी है और मेरी भी, कोई अंतर नहीं आता। अतीत हमें एक साथ पकड़े हुए है, फिर वर्तमान या भविष्य हमारे मन को क्यों विभक्त करे?

"राजनैतिक परिवर्तन कुछ नतीजे उत्पन्न करते हैं लेकिन मुख्य परिवर्तन तो वे है जो राष्ट्र की आत्मा और दृष्टिकोण में होते हैं। जिस बात ने मुझे इन पिछले महीनों और वर्षों में बहुत विचलित किया है, वह राजनैतिक परिवर्तन है, बल्कि क्रमशः आत्मा में होने वाले उस परिवर्तन की अनुभूति है, जिसने कि हमारे बीच बहुत बड़ी रुकावटें खड़ी कर दी हैं। भारत की आत्मा को बदलने का प्रयत्न एक ऐतिहासिक क्रम को जिससे हम युगों से गुज़र रहे थे, उलटना है और चूंकि हमने इतिहास की धारा को उलटने की कोशिश की, इसलिये हम पर आफ़तों का पहाड़ टूटा। हम सहज में भूगोल या उन शक्तिशाली प्रवृत्तियों से, जो इतिहास का निर्माण करती हैं, खिलवाड़ नहीं कर सकते। और यदि हम घृणा और हिंसा को अपने कामों का आधार बनाते हैं, यह उससे भी कहीं बुरी बात है।

"मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान का जन्म कुछ अस्वाभाविक ढंग से हुआ है। फिर भी यह बहुत से लोगों की प्रेरणा का प्रतिनिधित्व करता है। मेरा विश्वास है कि विकास का यह एक उल्टा क्रम है, लेकिन हमने इसे ईमानदारी से स्वीकार किया है। मैं चाहता हूँ कि आप हमारे वर्तमान विचारों को साफ-साफ समझ लें। हम पर यह आरोप लगाया है कि हम पाकिस्तान को कुचलना और उसका गला घोंटना चाहते हैं, और उसे भारत से मिलने के लिये मजबूर करना चाहते हैं। यह आरोप, दूसरे अनेक आरोपों की तरह है और हमारे रुख की नितांत नासमझी पर आधारित है। मेरा विश्वास है कि विभिन्न कारणों से यह अनिवार्य है कि भारत और पाकिस्तान एक-दूसरे के करीब आवें, नहीं तो उनमें आपस में संघर्ष उत्पन्न होगा। कोई मध्यम मार्ग नहीं है, इसलिये कि हम एक-दूसरे को बहुत समय से जानने के कारण एक-दूसरे के प्रति उदासीन पड़ोसी की तरह नहीं रह सकते। वास्तव में मुझे विश्वास तो यह है है कि संसार के वर्तमान प्रसंग में भारत के और बहुत से पड़ोसी देशों से निकट सम्बन्ध बढ़ेंगे। लेकिन इन सब का यह नहीं कि पाकिस्तान को मजबूर करने या उसका गला घोंटने का कोई विचार है। अगर हम पाकिस्तान को तोड़ना चाहते होते तो हम विभाजन को स्वीकार ही क्यों करते? उस समय इसका रोकना ज्यादा आसान था, बनिस्बत अब के, जबकि इतना सब कुछ हो चुका है। इतिहास में लौटने का सवाल नहीं होता। वास्तव में यह भारत की भलाई की ही बात होगी कि पाकिस्तान एक सुरक्षित और समृद्ध राष्ट्र बने, और हम उससे नजदीकी दोस्ती बना सकें। यदि आज किसी प्रकार भारत और पाकिस्तान के पुनर्मिलन का प्रस्ताव फिर से दिया जाय तो मैं स्पष्ट कारणों से इसे अस्वीकार कर दूंगा। मैं पाकिस्तान की महान समस्याओं का बोझ नहीं उठाना चाहता। हमारी अपनी ही समस्यायें क्या कम हैं? निकट का कोई भी

सम्पर्क, साधारण क्रम में और मित्रता की भावना द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है, जिससे कि पाकिस्तान एक राज्य के रूप में समाप्त नहीं होता बल्कि बराबरी का साझीदार बनकर ऐसे विशाल संघ का, जिसमें और देश भी शामिल हों, एक अंग बनता है।"

श्री नेहरू ने अपने भाषण के इस अंश में मुस्लिम छात्रों से दो बातें स्पष्ट की हैं। एक तो यह कि भारत की संस्कृति संकीर्णता पर आधारित नहीं है और हमारे सांस्कृतिक महा प्रसाद की आधार शिलायें संयुक्त संस्कृति की बनी हुई हैं। दूसरी यह कि भारत पाकिस्तान के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिये आतुर है। हिन्दुस्तानी मुस्लिमों की *तत्कालीन मनोदशा को भली भाँति समझ कर श्री नेहरू ने बड़ी हार्दिकता* और साथ ही स्पष्टता के साथ मुस्लिम छात्रों को इस भाषण को माध्यम से अपने साथ लेने की चेष्टा की। उन्होने उन छात्रों से भारत की राष्ट्रीय नीति का स्पष्टीकरण भी किया। उन्होंने कहा, 'मैंने पाकिस्तान के विषय में इसलिये कहा है कि यह विषय आपलोगों के मन में होगा और आप उसके प्रति हमारा रुख जानना चाहेगे। आपके मन इस समय कदाचित अनिश्चित अवस्था मे हों, और आप शायद यह ना जानते होंगे कि किधर देखें और क्या करें ? हममें से हर एक को कुछ विचारों के प्रति बुनियादी निष्ठा के विषय में स्पष्ट होना चाहिये। क्या हमारा विश्वास एक ऐसे राष्ट्रीय शासन में है, जिसके अर्न्तगत सभी धर्म और सभी प्रकार के मत हों, जो मूल में एक असाम्प्रदायिक राष्ट्र हो, *या हमारा विश्वास एकधार्मिक या धर्म सत्तात्मक राष्ट्र* में है जो कि दूसरे धर्म वालों को बिरादरी से बाहर समझता है ? यह कुछ बेतुका सा सवाल है, क्योंकि धार्मिक या धर्म-सत्तात्मक राष्ट्र का विचार संसार ने सदियों पहले त्याग दिया था और आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क में उसके लिये कोई जगह नहीं। फिर भी, भारत में आज यह प्रश्न करना पड़ता है, क्योंकि हममें से बहुतों ने कूद कर

एक पुराने युग में पहुँच जाने की कोशिश की है। हमारे व्यक्तिगत उत्तर जो भी हों, हमें सन्देह नहीं कि उन विचारों पर लौटना जिन्हें कि दुनिया पीछे छोड़ चुकी है, और जो आधुनिक विषयों से कोई भी मेल नहीं रखते, संभव नहीं। जहां तक भारत का सम्बन्ध है, मैं कुछ निश्चय के साथ कह सकता हूँ। हम उस सम्प्रदायिक और राष्ट्रीय लीक पर चलेंगे जो अन्तराष्ट्रीयता अभिमुखी महान प्रवृत्तियों के अनुकूल पड़ती है। इस समय विचारों में जो भी उलझाव हो, भविष्य में भारत अतीत की तरह ऐसा देश होगा जिसमें कि बहुत से सामान रूप में प्रतिष्ठित धर्मों का अस्तित्व हो, लेकिन जिसका राष्ट्रीय दृष्टिकोण एक हो, और मैं आशा करता हूँ कि यह राष्ट्रीयता संकीर्ण प्रकार की न होगी, जो कि अपने ही आवरण के भीतर रहना चाहती है, बल्कि एक सहिष्णु और रचनात्मक राष्ट्रीयता होगी, जो अपनी और अपनी जनता की प्रतिभा में विश्वास रखते हुए एक अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना में पूरा भाग लेगी। हमारा एक मात्र अंतिम उद्देश्य जो हो सकता है वह 'एक संसार' का है। यह आज एक दूर की बात मालूम होती है, जब कि दिलों में विरोध चल रहे हैं, और तीसरे लोकव्यापी युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं, और उसके नारे बुलन्द हो रहे हैं; फिर भी, इन नारों के बावजूद यही उद्देश्य है, जिसे कि अपने सामने रख सकते हैं, क्योंकि संसार व्यापी सहयोग न हुआ तो संसार व्यापी तबाही होकर रहेगी।"

अन्तराष्ट्रीय परिस्थितियों में श्री नेहरू द्वारा निर्दिष्ट इस राष्ट्रीय नीति का महत्व एक दम साफ़ है। कोई भी राष्ट्र बिना उदार दृष्टिकोण अपनाये आगे नहीं बढ़ सकता। संकीर्णता और साम्प्रदायिकता देश की उन्नति के लिये विषतुल्य ही हो सकती है, उनमें अमृतत्व तो हो नहीं सकता। श्री नेहरू का छात्रों से यह उद्बोधन बड़ा सार्थक है। शिक्षा का अर्थ अंतस की शुद्धि है। वह शिक्षा ही क्या, जो मनको संकीर्णताओं के भँवर जाल

में फांस दे ! शिक्षा तो मानव मन की मुक्ति के लिये होती है ।

इसी संदर्भ में श्री नेहरू ने इन छात्रों से यह कहा ? जहां तक मेरा संबंध है मैं इस साम्प्रदायिक भावना को कहीं भी प्रवेश पाते नहीं देखना चाहता, और शिक्षा सस्थाओं में तो हरगिज नहीं । शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मनको मुक्त करना है न कि उसे बंधे हुए चौखटों में बंद करना है । मैं इस विश्व विद्यालय को मुस्लिम युनिवर्सिटी के नाम से पुकारा जाना पसंद नहीं करता, उसी तरह जिस तरह कि मैं बनारस युनिवर्सिटी को हिन्दू युनिवर्सिटी कहलाना नहीं पसंद करता । इस का यह अर्थ नहीं है कि कोई विश्वविद्यालय विशिष्ट सांस्कृतिक, विषयों और अध्ययनों का प्रबंध न करे । मैं समझता हूं कि यह उचित है कि यह विश्व विद्यालय इस्लाम विचार धारा तथा संस्कृति के कुछ पहलुओं के अध्ययन पर खास जोर दे ।'

संविधान परिषद्, नई दिल्ली, में ३ अप्रैल, १९४८ को श्री अनंतशयनम् आयंगार ने साम्प्रायिक संगठनों को राष्ट्रीय जीवन से वर्जित करने संबंधी प्रस्ताव पेश किया था, तब नेहरू जी ने एक संशोधन प्रस्तुत करते हुए एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था । उस में उन्होंने अल्पसंख्यकों के सामाजिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में प्रगति करने की वकालत की थी । अपने संशोधन में भी उन्होंने "सामाजिक और शिक्षा संबंधी आवश्यकता" शब्द-जोड़े थे । इसी बात की उन्होंने अलीगढ विश्वविद्यालय में मुस्लिम संस्कृति के अध्ययन के संबंध में पुष्टि की ।

श्री नेहरू एक जनतंत्रवादी हैं । वह विचारों का थोपाजाना पसंद नहीं करते । उन्होंने मुस्लिम छात्रों को अपना और भारत सरकार का दृष्टिकोण समझाया और साथ में चाहा भी कि वे उसे अपनायें; किन्तु एक सच्चे जनतंत्रवादी की भांति यह भी कह दिया, इन निष्कर्षों को आप पर हठात् लादा नहीं जा सकता, यह दूसरी बात है कि कुछ हद तक इनके संबंध में घटनाओं की ऐसा प्रेरणा हो कि उन निष्कर्षों की उपेक्षा न हो

सके।"

श्री नेहरू ने अपने इस भाषण के अंत में मुस्लिम छात्रों से मार्मिक अपील की। इस अपील में श्री नेहरू का हृदय बोलता है: "स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र नागरिकों की भाँति इस महान् देश के निर्माण में और दूसरों की भाँति, जो भी जीत या हार हमारे सामने आवे, उनमें भाग लेने के लिये मैं आपको आमंत्रित करता हूँ। वर्तमान के दुःख और उसकी विपत्तियाँ दूर होंगी। भविष्य ही विचारणीय है, विशेष कर नवयुवकों के लिये और यह भविष्य आपका आवाहन कर रहा है। इस प्रकार का आप क्या उत्तर देंगे?"

काम ही सार तत्व

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

उद्यम से ही कार्य होते हैं, केवल इच्छाओं और मनोरथों से ही नहीं, क्योंकि सोये हुए सिंह के मुख में हिरण स्वयं नहीं चले जाते।

श्री नेहरू इस तथ्य को मानते हैं, उनका कहना है कि महत्त्वाकांक्षा हो, मनोरथ हो, और साथ ही उसके लिये हो भरपूर उद्यम।

"इस पीढ़ी को कठोर परिश्रम का दंड मिला है। आप चाहे जितना हाथ-पैर मारें, इससे बच नहीं सकते।"

—जवाहर लाल नेहरू

देश की नई पीढ़ी के समक्ष राष्ट्र के लक्ष्य और शिक्षा के उद्देश्य साफ़ करने के बाद हमारे लोक-नायक ने २८ जनवरी, १९४९ को लखनऊ विश्वविद्यालय के विशेष (रजत जयंती) दीक्षांत समारोह में डाक्टरेट की पदवी ग्रहण करते समय जो अभिभाषण दिया, उसके मिस नई पीढ़ी को काम का उपदेश दिया। उन्होंने छात्रों से अनुरोध किया कि वे सही तौर पर समस्याओं को समझ कर उनके हल करने में लग जायं। इसी भावना को कालान्तर में उन्होंने 'आराम हराम है' के राष्ट्रीय संदेश के रूप में अभिव्यक्त किया था।

श्री नेहरू ने इस अवसर पर तुच्छ झगड़ों की ओर ध्यान न देकर समय की माँग की ओर दत्तचित्त होने की सलाह दी। उन्होंने यह शिकायत की कि नई पीढ़ी के लोग चीजों को ढंग से नहीं समझते : "जबकि नई पीढ़ी के लोग, जिनके कंधों पर भारत को, उसकी लम्बी यात्रा में एक मंजिल आगे बढ़ाने का काम आने वाला है, ऐसे ढंग से पेश आते हैं जिसे कि मैं समझ नहीं पाता, तो मुझे आश्चर्य होता है; और वे राजनीति में भाग लेने की और इधर-उधर की बातें करते हैं। मुझे ताज्जुब होता है कि जब सारा भारत काम की पुकार

कर रहा है, श्रम की पुकार कर रहा है, निर्माण की पुकार कर रहा है, तब उनका ध्यान दूसरी ही दिशा में जा रहा है, वे दूसरी ही दिशा में काम कर रहे हैं और ऐसी भाषा बोलते हैं जो मेरी समझ में नहीं आती। तब मैं सोचता हूँ और आश्चर्य करता हूँ, क्या मैं इस पीढ़ी से जुदा हो गया हूँ? मैं सही मार्ग पर हूँ या वे ठीक मार्ग पर हैं? कौन गलती पर है और कौन सही रास्ते पर, यह मैं नहीं जानता। हो सकता है कि मैं गलत रास्ते पर हूँ। जो भी हो, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य कर सकता हूँ।

"यह ऐसा समय है जब काम करने की जरूरत है, जब परिश्रम करने की जरूरत है, शांति की जरूरत है, साथ मिल कर उद्योग करने की जरूरत है, जबकि राष्ट्र की सारी केन्द्रित शक्तियों की राष्ट्र के महान् कार्य में जरूरत है। पर हम कर क्या रहे हैं? इसमें सन्देह नहीं कि हममें से बहुत से लोग, इसी उद्देश्य से कार्य कर रहे हैं, और इस उद्देश्य में अपनी पूरी शक्ति लगा रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्र आगे बढ़ रहा है, और तरक्की कर रहा है। फिर भी जब मैं अपने चारों तरफ देखता हूँ तो मैं काम का वातावरण नहीं देखता, काम की मनोवृत्ति नहीं पाता। केवल बात, केवल आलोचना, दूसरे की बुराई और नुक्ता चीनी, क्षुद्र दलबंदियाँ और इसी तरह की बातें मिलती हैं। मैं इसे सभी वर्ग में, ऊपर-नीचे, नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के लोगों में पाता हूँ। और तब जैसा मैंने कहा है, अपनी अवस्था का ध्यान करके मैं किंचित् विचलित होता हूँ, क्योंकि आखिर मुझे अब कुछ ही वर्ष जीना है और मेरी एकमात्र अभिलाषा यह है कि अपने अन्तिम दिनों तक अपनी पूरी शक्ति से काम करूँ और जब मेरा काम पूरा हो जाय, तब मेरे बारे में आगे चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। काम और धंधे का तो महत्व है, पर जिनका काम समाप्त हो गया है और जो उठ गये हैं उनको सोच का और चिल्लपों मचाने का समय नहीं है। इसलिये

सब से अच्छी तरह जो मैं कर सकता हूँ, अपना काम करता जाऊँ।

"लेकिन फिर उसके बाद क्या होगा ? जबकि मैं और मेरे साथी जिन्होंने अच्छा हो या बुरा, भारतीय मंच पर, या इस प्रांत में पिछले बीस, तीस या अधिक वर्षों तक काम किया है, उठ जायेंगे तो निश्चय ही दूसरे लोग हमारी जगह लेंगे, क्योंकि राष्ट्र तो चलता ही रहता है। राष्ट्र की मृत्यु नहीं होती। पुरुष और स्त्रियाँ आते और जाते हैं, लेकिन राष्ट्र चलता ही रहता है। इसमें कुछ सनातन गुण हैं। और निश्चय ही भारत ऐसे राष्ट्रों में है जिसके विचारों में, विकास में और ह्रास में एक सनातनता है। इसलिये हम लोग चले जायेंगे, और जिस बोझ को अच्छी तरह हो या बुरी तरह, जैसे भी हो, हमने वहन किया है, वह दूसरो के कंधों पर पड़ेगा। वे कंधे कौन-से हैं ?"

इस प्रश्न मे भावी नेताओं के लिये एक गम्भीर संकेत है। श्री नेहरू ने छात्रो को काम के लिये झकझोरा है। उनका कहना है कि "काम करने का समय होता है, और खेल-कूद का भी, उसी तरह जैसे कि हंसी का और आंसू बहाने का समय होता है। और आज राष्ट्र के लिये काम करने का समय है, क्योंकि अगर मैं कहूँ तो इस पीढी को कठोर परिश्रम का दंड मिला है। आप चाहे जितना हाथ पैर मारें, इससे बच नहीं सकते।"

श्री नेहरू का यहाँ काम से तात्पर्य निश्चित रूप से रचनात्मक और सृजनात्मक काम से है। वह इस भाषण में उन प्रवृत्तियों की आलोचना करते हैं, जिनके अनुसार प्रदर्शन तथा हड़ताल आदि को भारी काम समझ लिया जाता है। उनकी दृष्टि में यह अपराध है। कोई भी राष्ट्र अपने कार्य और चरित्र-बल पर ही आगे बढ सकता है। वेदों के काल से लेकर आज तक यही उन्नति का मूल-मंत्र है। जब-जब हमारा देश इस मंत्र को भूला, तब-तब ही वह अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा। स्वतंत्रता की इस नई

बेला में नेहरू जी देश के नये खून को यही संदेश देते हैं; "आज लोग यह कल्पना करते हुए जान पड़ते हैं कि प्रदर्शन के नाम पर इधर-उधर सड़कों पर चक्कर लगाना काम है; या काम रोक देना—चाहे वह पुतली घर में हो, चाहे स्कूलमें या और कहीं, और उसे हड़ताल बताना या कोई दूसरे ही प्रकार का प्रदर्शन—काम है। अब हो सकता है कि इसका कहीं-कहीं उपयोग हो, निश्चय ही है। लेकिन मैं यह आप से कहता हूँ, और पूरी सच्चाई से कहता हूँ कि जिस तरह की बातें आज भारत में हो रही हैं, उससे बड़े अपराध की मैं कल्पना नहीं कर सकता। मैं आपसे हँसी नहीं कर रहा हूँ। मुझे चंद साल और काम करना है और मैं भारत को महान् और शक्तिशाली और सम्पन्न राष्ट्र देखना चाहता हूँ, जो न केवल अपने निवासियों के प्रति बल्कि इस विस्तृत संसार के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता हो। और जब मैं अपने नवयुवकों को उस प्रकार का व्यवहार करते देखता हूँ, जैसा कि वे करते हैं, जब मैं नवयुवकों को और मिरगी की मरीज़ लड़कियों को ग़लत रास्ते पर देखता हूँ, तो मैं आपसे कहता हूँ मुझे गुस्सा आता है। क्या वह सब काम जो हमने किया है, बिल्कुल इस कारण नष्ट हो जायगा, कि कुछ पागल लोग इस तरह की फ़िज़ूल बातें करते हैं और बेहूदे तरीक़े से पेश आते हैं ? यहाँ हो क्या रहा है ? क्या आज़ादी और जनसत्ता और स्वतंत्रता के विषय में यही आपकी धारणा है ? मैं इस मामले से आश्चर्य में हूँ। मैं इसके बारे में साफ़-साफ़ कहना चाहता हूँ, इस तरीक़े पर हम अपने राष्ट्र का निर्माण न कर सकेंगे। हमारे देश के सामने जो कठिनाइयाँ हैं, क्या आपको उनकी कल्पना है ?"

देश की कठिनाइयों, समस्याओं को ढंग से समझने के बाद ही उनका हल निकाला जा सकता है और उस हल के लिए अमल हो सकता है। प्रधान मंत्री नेहरू इस जगह इसी चीज पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि पहले समझो कि समस्याएँ क्या हैं, उन्हें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय

परिस्थितियों में देखो और फिर हल करने के लिए कमर कस लो। यह सही है कि जब तक देश की जनता और विशेष कर नई पीढ़ी सही दृष्टिकोण नही अपनाती, तब तक काम ढंग से, तरीके से, सलीके से नहीं होते। श्री नेहरू का इस सम्बन्ध में विवेचन बहुत ही मार्ग-दर्शक है। उन्होंने अपने इस भाषण में इसे इस तरह स्पर्श किया :

"समस्या है क्या ? आप समस्या का जवाब अपनी वाद-विवाद सभाओं में और अपने प्रदर्शनों द्वारा देने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन क्या आपने समस्या को कोई रूप भी दिया है, प्रश्न का निर्माण भी किया है ? बहुत से लोग बिना जाने हुए कि प्रश्न क्या है, उस का उत्तर पाना चाहते हैं। यह एक अजीब-सी बात है। लेकिन वस्तु स्थिति यह है कि हम उत्तर की बातचीत करते हैं और बिना जाने हुए कि प्रश्न क्या है—संसार के सामने जो प्रश्न या समस्या है, उसे समझे बिना उसका उत्तर देते हैं।'

जहां राष्ट्र की ऐसी मानसिक स्थिति हो जाती है, तो वहाँ उसका अल्ला ही बेली होता है। श्री नेहरू ने अपने इस भाषण में समस्याओं को देखने और समझने के लिये एक उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि समस्या को किस तरह समझा और देखा जाना चाहिए। यह उदाहरण हमारे सामने एक आईना सा बन कर आता है। उन्होंने भारत की खाद्य समस्या की चर्चा की और देश की अन्य निर्माण सम्बन्धी चीजों का ज़िक्र किया और कहा कि इन्हे हम केवल राष्ट्रीय आधार पर नहीं देख सकते, हमें अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज को ध्यान में रखना होगा, राजनैतिक ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठ भूमि को ध्यान में रखना होगा। भारतीय समस्याओं के विश्लेषण के लिए "क्षण भर के लिए भारत को भूल जाइये, इन समस्या के मोटे पहलुओं को इतिहास के प्रवाह मे देखिए, हम कहाँ पर पहुँचे हैं ? मैं बहुत पीछे नहीं जा रहा हूँ, बल्कि

यही डेढ़ सौ वर्ष पहले, जब कि पश्चिमी दुनिया में औद्योगिक क्रांति आरम्भ हुई और वह सौ या अधिक वर्षों तक चलती रही। वह एक विशेष विकास पर आधारित थी, समाज के पूंजीवादी ढाँचे के एक नये रूप पर, औद्योगिक पूंजीवाद पर, आधारित थी। इस औद्योगिक पूंजीवाद ने क्या करना चाहा, उसका उद्देश्य क्या था? उसका उद्देश्य था संपत्ति का और अधिक उत्पादन, अधिकतर उत्पादन। उससे पहले दुनिया बहुत गरीब थी, उत्पादन सीमित था। वह दरिद्रता के स्तर पर टिक सी गई थी। औद्योगिक पूंजीवाद ने संसार की संपत्ति को उत्पादन के एक नए साधन द्वारा बढ़ाना चाहा। इसके भीतर कुछ कठिनाइयों और असंगतियों के बीज हैं। हम उनसे कैसे बच सकते हैं? औद्योगिक पूंजीवाद ने विविध कारणों से तरक्की की ओर अपने आगे की समस्याओं को हल किया। यह याद रखिये कि यह पूंजीवाद अतीत युग की महत्तम सफलताओं में रहा है। इसने उत्पादन की समस्या का हल किया। लेकिन उसे हल करने में उसने और असंगतियां तथा कठिनाइयां पैदा कीं। जब लोग एक या दूसरे प्रकार के नारे लगाते हैं—बिना यह समझे हुए कि विशेष क्रम एक युग के लिए तो अच्छा हो सकता है और वही दूसरे युग के लिए बुरा हो सकता है, तो मैं उनकी समझदारी का कायल नहीं हो पाता। इससे केवल उनके मस्तिष्क की अस्पष्टता का पता चलता है। अब, आप आज के प्रश्नों को, इस प्रकार अपने मस्तिष्क को अस्पष्ट अवस्था में रख कर हल नहीं कर सकते। अब, जो हुआ वह यह था कि उत्पादन की समस्या सिद्धान्त रूप में हल हुई—व्यवहारतः कुछ ही देशों में और सिद्धान्त रूप में सर्वत्र। लेकिन ज्यों ही आप उत्पादन की समस्या को हल करते हैं, मूलतः तत्काल एक दूसरी समस्या अपना सिर उठाती है, अर्थात् जो कुछ उत्पादन हुआ है, उसके वितरण की समस्या। इस प्रकार एक संघर्ष उत्पन्न हुआ और यह संघर्ष बहुत समय तक उग्र इसलिए नहीं हुआ कि यह औद्योगिक पूंजीवाद, एक मानी में, संसार के

केवल एक भाग मे पनपा, अर्थात्, युरोप और अमरीका के कुछ भागों में, और इसके सामने शेष सारी दुनिया खेल खेलने, फैलने और यों कहना चाहें तो शोषए करने को पड़ी थी। इसलिये एक प्रकार का संतुलन बना रहा, क्योंकि वह इस प्रकार फैल सकते थे। नहीं तो पश्चिमी दुनिया में और भी पहले संकट उपस्थित हो जाता। लेकिन क्रमशः पश्चिमी संकट आया, एक बड़ा संकट आया, जिसके परिणाम स्वरूप-तीस चालीस साल पहले आया, पहला विश्वव्यापी युद्ध हुआ। यह पहला युद्ध ही था, *जिसने कमोबेश स्थिर या अस्थिर दिखने वाली संसार की* अर्थ व्यवस्था को उलटा। तब से, पहले महायुद्ध के बाद से, यह व्यवस्था स्थिर नहीं हो सकी है, और शायद अभी बहुत समय तक स्थिर न हो सकेगी, जब तक कि बहुत सी बातें ठीक न हो जायं। और मूलतः स्थिरता का प्रश्न उत्पादन की वृद्धि का, उन सब देशों में जहाँ यह उत्पादन हो रहा है, और उसका विकास हुआ है, वहाँ उत्पादन की बड़ी मात्रा में वृद्धि का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि न्याय पूर्वक वितरण की समस्या के हल करने का भी है।

"अब मैं जान-बूझ कर उन शब्दों का प्रयोग नही कर रहा हूँ। जिनके अर्थ आपके मस्तिष्क में है, अर्थात् समाजवाद पूंजीवाद, साम्यवाद आदि का। हमें वास्तविक समस्या पर विचार करना चाहिए और अस्पष्ट शब्दों में, जिनके *सौ अर्थ हो सकते हैं, समस्या* में हल को नहीं खोजना चाहिये।

"तो इस संतुलन हीनता और अव्यवस्था के फलस्वरूप-एक के बाद दूसरा विश्वव्यापी युद्ध देखा। और मैं नही जानता, आप तीसरा युद्ध भी देख सकते हैं, यद्यपि एक अजीब बात यह है कि इन युद्धों से समस्या का हल नहीं निकलता बल्कि वह कहीं और जटिल बन जाती है। मैंने एक तीसरे सम्भावित युद्ध की चर्चा की है। *व्यक्तिगत रूप से मैं समझता हूँ कि निकट भविष्य में या दो-तीन*

वर्षों में यह नहीं होने जा रहा है। मैं युद्ध की कोई संभावना, कोई गुमान नहीं देखता। इस बात से न डरिये कि लड़ाई सामने आगई है। फिर भी कोई नहीं कह सकता कि युद्ध उठ गया, या पुराना पड़ गया या होगा ही नहीं।

"अब आप जरा अपने मस्तिष्क में, इस युद्ध के धंधे को, नए युद्ध के चित्र को लाइये। यदि यह युद्ध होता है, तो इसमें संदेह नहीं कि इसके परिणामस्वरूप बड़े से बड़े पैमाने पर महत्तम विनाश होगा, जितना किसी भी पुराने युद्ध में हुआ है, उससे कहीं अधिक। इसका अर्थ मानवता तथा नगरों के विनाश के अतिरिक्त, मानवजाति ने युगों में जो कुछ निर्माण किया है उसका विनाश होगा; एक बात यह तो साफ है कि इसका अर्थ खाद्य के उत्पादन का सीमित हो जाना होगा। पिछली लड़ाई के समय से ही खाद्य का प्रश्न संसार में एक बड़ा प्रश्न बन गया है।······ ।"

समस्याओं को ढंग से देखने के बाद, उनके हल का प्रश्न आता है। इस सम्बन्ध में भी नेहरू का सुझाव है कि इनका हल अहिंसात्मक और शुद्ध साधनों द्वारा होगा। इन्हीं साधनों द्वारा सही काम हो सकता है। और ऐसा काम ही देश की प्रगति का विधायक हो सकता है।

साध्य और साधन

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कार्यमेकं महात्मनाम् ॥

मन, वचन, कर्म में अनेकरूपता दुष्टों का लक्षण है, और मन, वचन, कर्म में एकरूपता महात्माओं का लक्षण ।

श्री नेहरू का भी इसी बात पर बल है कि मनुष्य के साध्य और साधन में अन्तर नहीं होना चाहिये । 'मुँह में राम, बगल में छुरी' वाली बात बुरी है, बहुत बुरी ।

"मेरे देश के महान् नेता महात्मा गाँधी, जिनकी प्रेरणा और छत्रछाया में मैं बढ़ा, हमेशा नैतिक मूल्यों पर बल दिया करते थे और हमें साधनों के लिये अनुपयुक्त साधनों को कभी न अपनाने की चेतावनी देते थे।"

—जवाहर लाल नेहरू

१७ अक्तूबर १९४९ को न्यूयार्क की कोलंबिया यूनिवर्सिटी में 'डाक्टर आफ लाज' की डिग्री ग्रहण करते समय हमारे देश के हृदय-सम्राट श्री जवाहरलाल ने वहाँ पर जो भाषण दिया, उसमें अमरीकी विद्वानों और अमरीकी विद्यार्थियों के सामने भारतीय जीवन की विशेषतायें समझाते हुए साध्य और साधन की शुद्धता पर बल दिया।

श्री नेहरू ने लोगों के सामने एक प्रश्न रखा कि आज के व्यस्त और उथल पुथल वाले युग में जबकि लोगों के पास अपने आदर्शों और उद्देश्यों को सोचने का समय नहीं है, तो वे किस तरह चलें? अपने आप इस प्रश्न को रखकर उन्होंने इसका उत्तर देते हुए कहा: "यह चीज तो ठीक तरह से विश्व विद्यालय के शान्त वातावरण में ही सोची जा सकती है। आज विश्वविद्यालय में नवयुवक और नवयुवतियाँ, जिन पर कल जीवन की समस्याओं का भार आ कर पड़ेगा, स्पष्ट उद्देश्यों और मूलमानों पर विचार करना सीखें, तब अगली पीढ़ी के ठीक तरह से रहने की आशा हो सकती है।

पिछली पीढ़ी में कुछ बड़े आदमी हुए किन्तु पिछली पीढ़ी ने संसार को अनेक बार विनाश के गड्ढे में डाला। पिछली पीढ़ी के मानव में बुद्धि के अभाव के कारण संसार को दो महायुद्धों का मूल्य चुकाना पड़ा। इतना बड़ा मूल्य चुकाने के बाद भी हम असली शांति प्राप्त न कर सके, यहाँ तक नहीं मानव जाति ने पिछले अनुभवों से लाभ नहीं उठाया और वह उसी विनाश के मार्ग पर बढ़ी चली जा रही है।

"युद्ध हुए, विजय मिली, हमने उस विजय को सार्वजनिक तौर पर मनाया भी किन्तु उस विजय का क्या स्वरूप है और उसका हम किस तरह मूल्यांकन करते हैं? किन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये युद्ध लड़ा जाता है। शत्रु की पराजय अपने में कोई उद्देश्य नहीं बल्कि उद्देश्य की पूर्ति में बाधाओं को हटाना उसका मन्तव्य होता है। यदि उस मन्तव्य की पूर्ति न हो तो शत्रु पर विजय प्राप्त करने का मतलब केवल नकारात्मक राहत की प्राप्ति है और उसे हम कभी सच्ची जीत नहीं कह सकते। हमने देखा है कि लड़ाइयों में शत्रु को हराना ही एक मन्तव्य हो जाता है और यही उद्देश्यों को बहुधा भुला दिया जाता है परिणामतः शत्रु को हराकर प्राप्त की हुई विजय बहुत ही क्षणिक होती ही है और उससे असली समस्या हल नहीं होती है। यदि उससे एक दम सामने आई हुई समस्या हल भी हो जाती है तो उसके साथ-साथ और भी अनेक समस्यायें और कभी-कभी विकट समस्यायें सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। इसलिये युद्ध हो अथवा शांति हमारे उद्देश्य सदा स्पष्ट रहने चाहियें जिनकी सिद्धि के लिये सदा सचेष्ट रहे।

"मैं यह भी सोचता हूँ कि जिस उद्देश्य की तरफ हमारी दृष्टि लगी हो और उसकी सिद्धि के लिये जो साधन अपनाये जा रहे

हों, उन दोनों में सदा निकट और गूढ़ सम्बन्ध होते हैं। यदि साध्य उचित है, *किन्तु साधन और ढंग गलत हैं, तो साध्य भी भ्रष्ट हो* जायेगा और हम गलत दिशा में चले जायेंगे। इस प्रकार साध्य और साधन परस्पर अपृथक और गम्भीर भाव से जुड़े रहते है, उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में यह एक बहुत पुराना सबक है, जिसे प्राचीन काल से ही हमारे महापुरुष सिखाते चले आये हैं लेकिन दुर्भाग्य यह है कि इस सबक को याद बहुत कम रखा जाता है।"

श्री नेहरू ने यह बात साधिकार भाव से कही, क्योंकि उनके संघर्ष-पूर्ण जीवन मे साध्य और साधन की शुद्धता की भावना पथ-प्रदर्शक तारे की भाँति रही है। गाँधी जी के नेतृत्व में इस नरपुंगव ने भारत की इस विशेषता को अपने जीवन में उतारा, और ढंग से उतारा। प्रगतिशील विचार-धारायें और पाश्चात्य वातावरण के कायल जवाहरलाल की इस भावना विशेष के कारण क्रांतिकारी और गर्म दलीय क्षेत्रों में आलोचना भी हुई, किन्तु उन्होंने कभी इस भावना का आँचल नहीं छोड़ा। *अपनी आत्म-कथा और 'हिंदुस्तान की कहानी'* में उन्होंने इस चीज़ का कई स्थानों पर उल्लेख किया है और उन क्रांतिकारी और प्रगतिशीलों की कड़ी प्रत्यालोचना की है इसलिये गाँधी के महा प्रयाण के बाद जब वह अमरीका-यात्रा पर गये तो अपनी और अपने युगीन आन्दोलनों की इस मुख्य प्रवृत्ति की विशेष चर्चा करना उनके लिये स्वाभाविक था। उन्होंने कोलम्बिया और शिकागो विश्वविद्यालयों मे गाँधीवाद की कुछ विशेषताओं का विशद रूप से वर्णन किया। श्री नेहरू ने अपने इस भाषण मे यह भी साफ़ कर दिया कि गाँधी जी की महानता सर्वोपरि *थी और भारतीयों मे उनकी शिष्यता तक भी योग्यता नहीं थी,* किन्तु जितनी सीमा तक भारतीय नेताओं ने गाँधी जी की शिक्षाओं का पालन किया, उतने में ही भारत को अच्छे फल प्राप्त हुए। एक महान् और

सशक्त राष्ट्र के मुकाबले अहिंसात्मक क्रांति रंग लाई और भारत स्वतन्त्र हुआ।

श्री नेहरू ने बड़े विनम्र भाव से कोलंबिया विश्वविद्यालय के विद्वानों और विद्यार्थियों से भारत की शान्तिपूर्ण क्रांति से शिक्षा ग्रहण करने का अनुरोध किया। राजनैतिक कर्मी और भारत के सार्व भौम सत्ता संपन्न गणराज्य के प्रधान मन्त्री नेहरू का यह भाषण भारतीय संस्कृति के संदेशवाहक स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द की भाषण-मालाओं की अगली कड़ी के समान था। शिकागो विश्वविद्यालय में दिये गये भाषण का भी यही रंग था। जवाहरलाल प्रधान मन्त्री बनने के बाद जब-जब बाहर गये हैं, उन्होंने भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करने के साथ भारत का भी प्रतिनिधित्व किया है। जवाहरलाल से हम कई स्थानों पर मतभेद रख सकते हैं, पर यह निर्विवाद है कि भारत को इस पीढ़ी में सबसे अधिक समझने का यत्न उन्होंने ही किया है। आज भी वह अपने देश को जानने और बूझने के लिये सबसे अधिक आतुर रहते हैं।

'सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्तां हमारा' के गायक उर्दू के शीर्ष कवि स्व० इकबाल ने, जो अपने अन्तिम दिनों में पाकिस्तान के हामी हो गये थे, जिन्ना और जवाहर की तुलना करते हुए जवाहर को भारतीय जनता का प्रतिनिधि कहा था।

मैंने अपने एक लेख में जवाहरलाल को 'ब्रिटिश ब्राह्मण' के नाम से पुकारा है। ब्रिटेन में उच्च शिक्षा प्राप्त, अंग्रेजी भाषा के मर्मज्ञ, अंग्रेजियत से प्रभावित श्री नेहरू भारतीय संस्कृति की अनेकानेक विशेषताओं से भी अभिज्ञ हैं। इसीलिये उन्हें 'ब्रिटिश ब्राह्मण पण्डित जवाहरलाल नेहरू' पुकारा था। आध्यात्मिक शक्ति की उच्चता का निरूपण करते हुए हमारे संस्कृति दूत श्री नेहरू ने अहिंसक और शान्तिमय क्रांति की सफलता पर प्रकाश डालते हुए भोगवादी अमरीकियों से कहा,

"शान्तिमय क्रान्ति ने हमें यह बतलाया कि यह आवश्यक नहीं कि

भौतिक शक्ति ही मानव भाग्य की विधायिका बने, संघर्ष प्रारम्भ करने और उसे समाप्त करने का ढंग भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। पिछले इतिहास मे शरीर बल के महत्त्व का प्रदर्शन है किन्तु उसमें यह भी परिलक्षित है कि शरीरबल का अन्तिम रूप से उपेक्षा नही कर सकता। और यदि वह ऐसा करने की चेष्टा करता है, तो उससे खतरा उत्पन्न हो जाता है। आज यह समस्यापूर्ण तीव्रता के साथ हमारे सामने है, क्योंकि शरीर बल (भौतिक शक्ति) के पास जो शस्त्रास्त्र हैं, उनकी भयंकरता से रोमाच हो आता है। बर्बर युग और बीसवीं सदी मे केवल अन्तर यह हुआ कि आज मनुष्य ने अपने बुद्धि बल से मनुष्य-विनाश के लिये कही अधिक विनाशात्मक शस्त्राशस्त्रो का निर्माण कर लिया। अपने गुरु (महात्मा गांधी) की शिक्षा को ध्यान में रखते हुए मेरा यह विश्वास है कि इस स्थिति का मुकाबला करने की और भी राह है, और सामने खडी समस्या का और भी हल है।

"मैं अनुभव करता हूँ कि एक राजनीतिज्ञ अथवा सार्वजनिक व्यक्ति वास्तविक्ताओं की उपेक्षा करके अमूर्तभाव संश्लिष्ट सत्य के सहारे नही चल सकता। उसकी गतिविधि अपने सहकर्मियों की सत्यवृत्ति की मात्रा पर निर्भर होती है फिर भी बुनियादी सच्चाई, सच्चाई ही रहती है, सदा उसी को ध्यान मे रखकर यथा-शक्ति कर्म संचालन होना चाहिये, अन्यथा हम बुराई के चक्कर में फँस जाते हैं, और एक बुराई दूसरी बुराई की ओर खींच ले जाती है।"

आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति की महत्ता को दर्शाने के बाद श्री हरू ने भारत की वैदेशिक तटस्थ नीति की भी मीमांसा की। यह बड़ा वश्यक था। यूरुपवासी और विशेषकर अमरीकी भारत की तटस्थ देश नीति नहीं समझ पाते। उन्हें गुटों की भाषा समझ में आती है।

उच्च नैतिक धरातल की बात अभी युरप के मन को लगी नहीं। एशिया की इस विशेषता को उसकी दीनता के कारण युरप समझ नहीं पाया। गरीब की अच्छी बात भी किसे सुहाये?

श्री नेहरू ने एक दार्शनिक की भाँति समझाया कि भारत अपने आदर्शों की झलक नहीं छोड़ सकता, अपनी परम्परागत नीति, अपनी आध्यात्मिकता की पुट उसके कार्यों में रहनी जरूरी है। उसका यही तो पुराकाल से व्यक्तित्व चला आ रहा है। अपनी स्वतन्त्र स्थिति लेकर जब भारत विश्व के समक्ष आया तो उसका मन शत्रुता से विरत था, उसकी किसी से भी शत्रुता न थी, अपने पुराने शासक से भी नहीं। अंग्रेज भी उसके दोस्त हो गये थे। गांधी के नेतृत्व की यही तो विशेषता थी। साबरमती के संत का यही तो कमाल था। गांधी के 'राजनैतिक उत्तराधिकारी' नेहरू ने गांधी के नेतृत्व के इस रंग से भारत की विदेश नीति को रंजित करके उसे विश्व-प्रांगण में खड़ा कर दिया। श्री नेहरू ने भारतीय विदेश नीति के मुख्य मुद्दों को इस तरह निरूपित किया :

"शान्ति का अनुसरण किसी बड़ी शक्ति या शक्ति गुट के साथ गठबन्धन न करना अपितु प्रत्येक विवादास्पद प्रश्न पर स्वतन्त्र अभिमत रखना, राष्ट्रीय और वैयक्तिक स्वतन्त्रता कायम रखना, जातीय भेदभाव तथा विश्व जनता के अधिकांश भाग को पीड़ा देने वाले दैन्य, रोग और अज्ञान का उन्मूलन। मुझसे बहुधा पूछा जाता है कि भारत किसी राष्ट्र विशेष अथवा राष्ट्र समूह से क्यों नहीं गठबन्धन करता है? मुझसे कहा जाता है कि क्योंकि हमारा किसी से गठबंधन नहीं है, इसीलिये हम मुंडेर पर बैठे हुए हैं। यह प्रश्न और यह टिप्पणी आसानी से समझ में आ जाती है, क्योंकि जो लोग संकट में गंभीर भाव से ग्रस्त हैं, उन्हें दूसरों का मौन और तटस्थ बैठे रहना अबुद्धिमत्तापूर्ण, अदूरदर्शितापूर्ण, नकारात्मक, अयथार्थ तथा कायरतापूर्ण तक लगता है। किन्तु मैं यह साफ कर दूं कि भारत नकारात्मक तथा एकदम तटस्थ नीति का

अनुसरण नहीं करता। वह तो अपने स्वतन्त्रता-संघर्ष और गांधी के उपदेशों से निस्सृत सरल और सबल नीति पर चलता है। हमारी अपनी उन्नति के लिये ही नहीं, बल्कि विश्व के लिये भी शांति की एकदम आवश्यकता है। *यह शांति कैसे कायम रह सकती है?* न आक्रमण के सामने सिर झुका कर, न बुराई और अन्याय से समझौता करके, और न ही युद्ध की चर्चा और तैयारी से। आक्रमण का तो मुकाबला करना है, क्योंकि उससे शांति को खतरा पैदा होता है। साथ ही पिछले दोनों युद्धों की शिक्षा भी याद रखनी है, और मुझे तो यह बड़ा अचरज होता है कि उस शिक्षा के बावजूद हम उसी राह चले जा रहे हैं। विश्व को दो विरोधी शिविरों में बाँट देने की वही प्रक्रिया उसी युद्ध की तरफ बढ़ा ले जाती है, जिसे संसार टालने का यत्न करता रहा है। इससे भयंकर भय की भावना पैदा होती है और वह भय मानव-मन में अँधेरा करके गलत मार्गों पर ले जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका के *एक राष्ट्रपति ने ठीक ही कहा था कि स्वयं भय के अलावा किसी* और से डरने के लिये कुछ भी नहीं है।"

"*इसलिये हमारी समस्या भय को कम करने और अंत में उसे* खत्म करने की है। यदि समूचा संसार गुट बनाकर युद्ध की बात करेगा, तो भय समाप्त नहीं होगा। फिर तो युद्ध अवश्यम्भावी हो जायगा।"

श्री नेहरू ने नैतिकता मूलक भारत की विदेश नीति को विशद करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया कि मनुष्य भी स्वतन्त्रता और शांति पर खतरा आने पर भारत की नैतिकता, आध्यात्मिकता और परम्परा का तकाज़ा होगा कि वह मुक़ाबले के लिये खड़ा हो जायगा।

एक बात और जैसा कि उन्होंने विदेश नीति के मुद्दों पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि भारत जातीय भेद-भाव दैन्य, रोग और अज्ञान

के उन्मूलन का पक्षपाती है। श्री नेहरू ने अमरीकी छात्रों और अध्यापकों और दार्शनिकों से कहा कि युद्ध की भावनाओं का दमन भारत और एशिया की उन्नति में निहित है। शांति का साध्य, समुचित सही और ठीक साधन अपनाने पर पूरा होगा।

गांधीवादी पद्धति

तृष्णां छिन्धि भजक्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः ।
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधु पदवीं सेवस्व विद्वज्जनाम् ॥

तृष्णा का त्याग करो, क्षमा अपनाओ, घमण्ड को छोड़ो, पाप में मत लगो, सत्य बोलो, सज्जनों का अनुगमन करो और विद्वानों की सेवा करो।

भारतीय संस्कृति में मानव-व्यवहार पद्धति का यह सार है। इस सार को गांधी ने अपनाकर नयी भाषा में विश्व को यह अर्पित कर दिया था। नेहरू इस पद्धति को समझ कर 'खंडित व्यक्तित्व' से बचने के लिये प्रेरणा करते हैं।

"किसी भी व्यक्ति को उस समय सबसे अधिक सन्तोष होता है, जब उसकी कथनी और करनी एकाकार हो जाती है। उस समय उसका एक सुगठित व्यक्तित्व होता है, और वह असन्दिग्ध भाव से शक्ति और बल के साथ काम करता है" —जवाहरलाल नेहरू

२७ अक्तूबर १९४६ को शिकागो विश्वविद्यालय में हमारे प्रधान मन्त्री ने गान्धीवादी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि किस प्रकार भारत का स्वतन्त्रता-आन्दोलन गान्धी जी के नेतृत्व में फलाफूला *और सफल हुआ, और आज़ादी मिलने के बाद देश ने गान्धीवादी पद्धति* से सफलताओं पर सफलतायें प्राप्त की। उन्होंने यह भी बताया कि गांधी वादी ढंग किस प्रकार संसार मे युद्ध को अनुत्साहित करके शांति को प्रोहत्साहित्त कर सकता है।

श्री नेहरू ने अपने सदर्भ में भी गांधीवादी प्रभाव की व्याख्या की और बताया कि वो वह स्वय और उनके सहयोगी किस प्रकार अपना सब कुछ त्याग करके देश की आज़ादी के लिये मैदान मे कूद पड़े और उस समय से लेकर आज की घड़ी तक किस तरह अनथक भाव से देश की उन्नति के लिये काम कर रहे हैं।

शिकागो विश्वविद्यालय के अधिकारियों, अध्यापकों तथा विद्यार्थियो के सामने गांधीवादी कार्य प्रणाली की विशद मीमांसा नेहरू ने अपनी

राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय दृष्टिकोण को समझाने के लिए की। यह एक बहुत जरूरी चीज थी। हमारी देश की आजादी के बाद अमरीकी जनता और अमरीकी प्रेस हमारे कार्य व्यवहार से असन्तुष्ट थे। यद्यपि यह असन्तोष अनेक क्षेत्रों में अब भी वर्तमान है, किन्तु श्री नेहरू ने १९४९ में अपनी यात्रा-काल में अमरीकी जनमत को भारतीय कार्य पद्धति से अधिक से अधिक सहज और सरलभाव से अवगत कराने की सफल चेष्टा की। इस दृष्टि से शिकागो विश्वविद्यालय में दिया गया उनका भाषण अत्यन्त महत्व का है। इस भाषण का लाभ न केवल विदेशी छात्रों को प्राप्त हुआ है, अपितु हमारे देश की नई पीढ़ी भी इससे लाभान्वित हुई है। यहीं तक नहीं, आनेवाली पीढ़ियों के लिये भी यह भाषण आजादी के आन्दोलन और आजादी की प्राप्ति के बाद की समस्याओं और कठिनाइयों के निराकरण को समझने के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

श्री नेहरू ने अपने भाषण में यह बतलाया कि हमारे देश का स्वतन्त्रता-संग्राम गांधी जी के भारतीय राजनीति में आने से पीढ़ियों पहले चल रहा था, किन्तु उनके पदार्पण ने इस आन्दोलन में जादुई असर पैदा कर दिया। उस असर की तस्वीर श्री नेहरू ने इस तरह खींची है, "उस समय मैं बहुत छोटा था, किन्तु फिर भी उस परिवर्तन (गांधी जी के प्रभाव से आये हुए प्रभाव) की अत्यन्त स्पष्ट स्मृतियां मेरे मानस पटल पर हैं, क्योंकि इस परिवर्तन ने हमारी सार्वजनिक जनता की तरह मुझपर भी असर डाला था। यह एक विचित्र परिवर्तन था। उस समय हम बड़े निराश थे, आजादी के लिये मन में तड़प और जोश था, किन्तु यह न पता चलता था कि क्या करें? हम असहाय थे, निरस्त्र थे, और किसी भी उचित ढंग से संगठित न थे, और देश को वर्षों से अधिक शासन करने वाले हमारे देश के ऊपर एक महान साम्राज्यवादी शक्ति का मुकाबला करने के लिये हम नितान्त अयोग्य थे। यह साम्राज्यवादी शक्ति हमारे देश

में केवल शस्त्र-शक्ति से टिकी हुई एक अपनी शक्ति नहीं थी, बल्कि, उसने हिन्दुस्तान में अपनी गहरी जड़ें गड़ाई हुई थीं । इस ताक़त को उखाड़ फेंकना एक असाधारण कठिन काम प्रतीत होता था ।

"घोर निराशा में हमारे कुछ नौजवान हिंसात्मक ढंगों से आतंक वाद पर आये थे, किन्तु उसका कोई लाभ न था । जहाँ-जहाँ कुछ वैयक्तिक आतंकवादी घटनायें हो जाती थीं, जिनका व्यापक दृष्टि से कोई भी अर्थ नहीं था । दूसरी ओर हमारे कुछ नेताओं की राज नीति इस क़दर कमज़ोर थी कि उससे भी कोई नतीजा नहीं निकला था । इस तरह इन दो धाराओं के बीच हमें अपना रास्ता पाना बड़ा मुश्किल था । भारतीय सार्वजनिक जीवन के इन कुछ नेताओं को नीति का अनुसरण करना अपमानजनक लगता था और दूसरी ओर आतंकवादी रास्ता भी बिल्कुल गलत और निरर्थक दिखलाई पड़ता था, क्योंकि वह रास्ता जहाँ अपने में बुरा था, वहाँ किसी भी तरह से लाभकारी न था ।

"ऐसे काल में गांधी जी भारतीय मंच पर आये और उन्होंने हमें राजनैतिक कर्म का एक मार्ग दिखाया । यह एक अटपटा नया मार्ग था । जो कुछ गांधी जी ने कहा, वह सार रूप में तो नया नहीं था । हमारे महापुरुष ऐसी चीजें कहते आये थे, किन्तु इसमें नयापन यह था कि गांधी ने अपनी कथनी को सामूहिक राजनैनिक क्षेत्र में अमली जामा पहना दिया । एक व्यक्ति को अपने निजी जीवन में जो कुछ करने के लिये कहा जाता था, वह अचानक सामूहिक जीवन में अपनाने के लिये कहा गया—और वह भी एक ऐसे बड़े देश के सामूहिक जीवन में, जहाँ के लोग अपढ़ थे; अशिक्षित थे और नितान्त भयभीत थे । जहाँ के लोग भयाक्रान्त थे और जो (भारत की ८० प्रतिशत किसान जनता को संदर्भ में) हर दस किसी से चाहे वो सरकारी कर्मचारी हों या सूदख़ोर महाजन, और जो उनके सम्पर्क में आता था लतियाये जाते थे और प्रताड़ित किये जाते थे । वे हर

किसी से बुरा व्यवहार पाते थे। जो भारी बोझ उनके ऊपर लदा हुआ था, उससे किसी तरह राहत न मिलती थी।

"इस बीच में गांधी जी आये और उन्होंने इस जनता को बतलाया कि मुक्ति का, आजादी का एक रास्ता है। उन्होंने कहा, 'सब से पहले अपना डर दूर करो। बिल्कुल मत डरो, संगठित रूप से किन्तु सदा शान्ति के साथ काम करो। अपने विरोधी के विरुद्ध अपने दिलों में दुर्भावना मत लाओ। तुम तो किसी एक व्यक्ति, एक नस्ल, या एक अन्य देश की जनता के विरुद्ध नहीं लड़ रहे हो, बल्कि एक ढांचे के खिलाफ लड़ रहे हो। तुम साम्राज्यवादी अथवा औपनिवेशिक ढांचे के विरुद्ध लड़ रहे हो।'

"अब, हमारे लिए यह सब कुछ समझना आसान काम न था, बल्कि दूसरों के लिये, उदाहरण के तौर पर हमारे किसानों के लिये इस चीज का समझना बहुत ज्यादा मुश्किल रहा होगा। किन्तु यह एक तथ्य है कि गांधी जी की आवाज में एक ताकत थी, उनमें कुछ ऐसा था जो दूसरे लोगों को उत्साह से भरता और यह महसूस कराता कि यह व्यक्ति केवल बात बनाने वाला ही नहीं है, बल्कि जो यह कहता है, उसे करता है; और अगर मैं कहूँ तो यह "देश का भला" कर सकता है।

"लगभग जादू की तरह उनका (गान्धी जी का) असर फैला। लोग उन्हें पहले भी जानते थे, लेकिन इस खास ढंग से नहीं। और कुछ ही महीनों में हम ने देखा कि हमारे देहातों में एक परिवर्तन आ गया है। किसानों के तौर बदलने लगे हैं। वे कमर सीधी करके खड़े हो गये हैं, वे सर उठा कर बात कर सकते हैं, उनमें आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव आ गये हैं। अब, यह अपने आप नहीं हो गया, गांधीजी के इस सन्देश को देहातों में किसानों के पास हजारों नवयुवक और नवयुवतियाँ लेकर गईं। सबसे पहले नई पीढ़ी

उन लोगों के पास गई जिन्होंने उत्साह के साथ गान्धी जी के सन्देश को स्वीकार किया। कुछ ही महीनों में, भारत का समूचा दृष्टिकोण बदल गया।

"अब, यह कहना तो बहुत आसान है, 'डरो मत।' इस वाक्य में कोई भी जादुई असर नहीं। हम किस बात से डरते थे? एक आदमी आमतौर पर किस चीज से डरता है? बहुत सी चीजों से। हम जेल जाने से डरते थे। देशद्रोह के आरोप में अपनी जायदाद के जब्त होने से डरते थे। हम विद्रोही होने के आरोप में गोली से उडाये जाने और मारे जाने से डरते थे। गांधी जी ने तर्कपूर्वक हमें समझाया, 'अगर तुम देश की आजादी के लिये इस कदर उत्सुक हो, तो क्या हुआ अगर तुम जेल चले जाओगे, या तुम्हारी जायदाद जब्त कर ली जायेगी या मार भी दिये जाओगे? यह कुर्बानी ज्यादा नहीं, क्योंकि तुम ज्यादा बड़ी चीज उसकी एवज में पाओगे। एक बड़े उद्देश्य की सेवा के अलावा और उससे होने वाले फलों की प्राप्ति के अलावा, आजादी के लिये काम करना ही तुम्हारे लिए सन्तोषजनक और आनन्ददायक होगा।'

"जैसे भी हो, गान्धी जी की इस वाणी से अपार जनता आश्वस्त हुई, और एक जबरदस्त परिवर्तन देश में आया।

"इस तरह हमारे देश की राजनीति में 'गांधी-युग' प्रारम्भ हुआ, जो उनके मृत्युपर्यन्त कायम रहा और जो किसी न किसी रूप में हमेशा चलता रहेगा। मैंने यह सब कुछ इसलिये कहा है, जिससे तुम्हारे जहन में यह नक्श हो जाये कि हमने किस तरह से काम किया। हममें से बहुत-बहुत लोगों ने अपने सामान्य धंधे और काम छोड़ दिये और हम गान्धी जी के सन्देश को लेकर गाँव-गाँव गये। हमने वे दूसरी चीजें भी देहातों में जाकर समझाई जो हमारी राज-नैतिक संस्था के तकाजे के तौर आई, और हम करीब-करीब अपने

पहले तमाम काम धन्धे भुला बैठे। हमारे जीवन पलट गये, दानिस्ता तौर पर नहीं—अपने आप सहज भाव से हमारे जीवन बिल्कुल पलट गये, यहाँ तक पलट गये कि हम पहले जिन गतिविधियों में लगे रहते थे उनमें हमारी तनिक भी रुचि न रही। उस समय ही नहीं बल्कि वर्षों तक हम इस नये काम में डूब से गये।

"जाहिरातौर पर, अगर हमें इस काम में अत्यधिक आत्मतोष न मिलता तो हम यह काम कर ही न सकते थे। हमें निश्चित रूप से सन्तोष मिला; और जब लोग यह ख्याल करते हैं कि मैं कई वर्षों तक जेल में रहने के कारण अधिक पीड़ित रहा तो वे आंशिक रूप से सही होते हैं। किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से बुनियादी तौर पर वे गलत सोचते हैं क्योंकि हम में से बहुत से लोग जिन्होंने ये यातनायें सहीं, अपने यातना के काल को अपनी जिन्दगियों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग समझते हैं। इस यातनाकाल को हम सामान्य सुख की भाषा में नहीं माप सकते। इसे कुछ गहरे दृष्टिकोण से देखना होगा, अपनी यातना-पीड़ा के काल में हमने कुछ सन्तोष पाया। क्यों? क्योंकि उस समय हमारे आदर्श और हमारे काम एकाकार हो गये थे अथवा यूँ कह दें कि हमने अपने आदर्शों के अनुरूप काम किया था। और किसी एक व्यक्ति को उससे ज्यादा सन्तोष नहीं हो सकता जबकि उसके विचार और कार्य संश्लिष्ट हो जायें। विचार और कार्य के एकरूप होजाने के काल में मनुष्य एक ऐसी ठोस ताकत ग्रहण कर लेता है कि उसके हर काम में एक शक्ति, एक बल पैदा हो जाता है और वह सब प्रकार की दुविधाओं से मुक्त हो जाता है। वास्तविक कठिनाइयाँ बाहर से नहीं के बराबर आती हैं। अन्दरूनी दिक्कतें तो वे होती हैं जो हमारे सन्देह काल में हमारे दिल दिमाग से पैदा होती हैं; अपनी दिक्कतें उस समय भी पैदा हो सकती हैं जबकि हम किसी कारण से अपनी आस्था

और विश्वास के मुताबिक काम न कर पाते हों। हमारे अपने अन्दर इन्हीं अन्दरूनी कारणों से बाधायें और कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है, और तरह-तरह के भाव उठ खड़े होते हैं। अपने यातना-काल में जो कुछ हम कर रहे थे, उससे हमें जबरदस्त सन्तोष की भावना प्राप्त होती थी, हम उस समय सुगठित, ईमानदार मनुष्य बन गये थे, हममें विचार और कार्य न्यूनाधिक रूप में एकाकार हो गये थे।"

भारतीय राजनीति में गांधी जी के प्रभाव का जो शब्द-चित्र अमरीकी छात्रों के सामने श्री नेहरू ने खींचा, उसकी एक यह संक्षिप्त झाँकी है, पर इसमे गांधीवादी विचारधारा का एक प्रभावशाली प्रतिबिंब हमारे मन पर अंकित हो जाता है। नेहरू ने कोलंबिया विश्वविद्यालय में साध्य और साधन की शुद्धता का दर्शन समझाया था, यहाँ वचन और कर्म, विचार और कार्य की एकरूपता का मर्म समझाया है। *दोनों चीजों को यदि जोड़ लिया जाय, तो गांधीवादी विचारधारा* का सार तत्व निकल आता है। साध्य और साधन की शुद्धता विचार और कार्य की एकरूपता के लिये प्रशस्त मार्ग की तरह है। शिकागो विश्वविद्यालय वाले इस भाषण में हमारे नेता ने इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये स्वतन्त्रता से पहले और स्वतन्त्रता से बाद के दौरों के कई *उदाहरण दिये हैं। गांधी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर भारतीय* नेताओं ने विकट समस्याओं का बड़ी वीरता से सामना किया और भारत की अधिकांश जनता के लिये अनेक अच्छे सुख सुविधा पूर्ण कार्य किये।

सांसारिक समस्याओं की ओर दृक्पात करते हुए श्री नेहरू ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुसार सपूर्ण संसार को सहयोग पूर्वक रहने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि अणु और परमाणु की शक्ति का प्रयोग *मानव-हित में किया जाना चाहिये। सहयोग और मानव-हित का सम*न्वय संसार में सुख के सागर लहरा देगा।

श्री नेहरू ने कहा कि गांधीवादी पद्धति के आधार पर विश्व-कठिनाइयों के हल में ध्यान दिया जाना चाहिये। गांधीवादी ढंग हमारी मानसिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं के हल में बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है।

मनुष्य की शक्ति

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता,
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जिन मनुष्यों में विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण, धर्म नहीं हैं, वे इस पृथ्वी पर भारभूत होकर मनुष्य शरीर धारण कर हिरनों की तरह विचरण करते हैं।

मनुष्य और पशु में अन्तर है: जो गुण अपनाते हैं, वे हैं मनुष्य, और जो नहीं अपनाते, वे हैं पशु। ये गुण उस शक्ति का अंश हैं, जिस की और नेहरू ने विराट गुप्त शक्ति का ध्यान सीखा है।

"भविष्य संघर्ष और कठिनाई से भरा हुआ दिखाई देता है, किन्तु मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है कि मनुष्य की शक्ति, उसकी आत्मा, जो अब तक कायम रही है, फिर विजय प्राप्त करेगी।"

—जवाहरलाल नेहरू

३१ अक्तूबर, १६४६ को कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए श्री नेहरू ने मनुष्य की अदम्य शक्ति में भरपूर विश्वास प्रकट किया, उस अदम्य शक्ति में, जो युग-युग से परिस्थितियों से टकरा-टकरा कर वातावरण को अनुकूल बनाती रही है। उसकी राह में काँटे आये हैं, किन्तु उसने उन्हें फूलों में बदला है, उसने चिलचिलाती धूप को चाँदनी बनाया है और रेगिस्तान को पानी के सुन्दर चश्मों में बदला है। *इस शक्ति का नाम पुरुषार्थ है। मनुष्य का पुरुषार्थ क्या भारत, क्या चीन, क्या एशिया, क्या यूरोप सर्वत्र समान भाव से* कठिनाइयों के सामने सीना तान कर खड़ा हुआ है और उसने उन्हें धराशायी किया है। मनुष्य का यह पुरुषार्थ प्रकृति से लड़ा है, समुद्र के तल में जाकर मोती लेकर आया है; पर्वतों के मस्तकों पर खड़ा होकर मानव-विजय के ढोल बजाकर आया है; इसने मानव को आकाश से बातें कराई हैं; इसने धरती की छाती को चीर कर उसके हृदय के सौंदर्य को मनुष्य के सामने आमलकवत् रख दिया है; इसने प्रकृति की बाँधी हुई सीमाओं को कपड़े के परदे की तरह उठाकर फेंक दिया है

और इन्सान से इन्सान की दूरी को दूर करके हृदय और मस्तिष्क की भावनाओं से समन्वित होकर दुनिया को एक नया राग दिया है, एक नया स्वर दिया है।

इस नये राग, इस नये स्वर के विस्तार, प्रसार और प्रचार की बाधा मनुष्य के अपने द्वेष हैं, अपने अहंकार हैं, अपने दुर्गुण हैं। मनुष्य यदि अपने मन की इन वृत्तियों से छुटकारा पाने और विवेक के प्रकाश से अधिकाधिक आलोकमान होता जाय तो यह दैन्य-दुखों और कष्टों की दुनिया सुख और सौंदर्य के स्वर्ग में परिवर्तित हो जाए। श्री नेहरू ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में भारत के हर घर में नहीं सुने जाने वाले इस दर्शन का, इस धर्म का उपदेश दिया। कैलिफोर्निया की घाटी पहले भी अनेक अवसरों पर भारत के अनेक मनस्वियों से यह 'धर्म-वाणी' सुन चुकी थी, किन्तु इस बार भारत का एक बहुत बड़ा देशभक्त बोला था, भारत का अन्वेषक बोला था, वह अन्वेषक, जो हर घड़ी, हर क्षण भारत की प्राचीनता की गुफाओं में अपने ज्ञान की मशाल लेकर सत्य का अन्वेषण करता है और जो भारत की नवीनताओं को भी सच्चे जिज्ञासु की भाँति जानने पहिचानने की चेष्टा करता है। जवाहरलाल का सत्यान्वेषण, उनका आत्मान्वेषण और ज्ञान तथा कर्म को एकाकार कर के समाज-रूप को सत्यता पूर्वक ईमानदारी से बनाने की उत्कट इच्छा और कोशिश है, जो उन्हें भारतीय जनता का 'सरताज' बनाये हुए है। यहाँ, इसी स्थल पर, सब उनके प्रशंसक हैं। उनके विरोधी भी उनकी इन भावनाओं की कद्र करते हैं, और जवाहर लाल ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के इन्हीं भावनाओं की किरणों का प्रसार किया और संकट के अन्धकार से बाहर निकल आने की प्रेरणा की।

श्री नेहरू ने कहा कि अमरीकी राष्ट्रपति ने उनकी यात्रा को 'अमरीका की खोज' की जो संज्ञा दी है, वह एक दम उपयुक्त है। उन्होंने अमरीका की विविधता में एकता के दर्शन किये, बिल्कुल

भारत की तरह अमरीका के वास्तविकताप्रिय व्यवसायी और उद्यमी व्यक्ति मे हृदय की ऊष्मा भी देखी, शांति के लिये प्यार देखा, जीवन की गतिशीलता को प्रोत्साहन देने के लिये तड़प देखी, उसके संबंध में हो रहे गलत-प्रचार का वास्तविक दर्शन से पर्दा-फ़ाश होते देखा। अल्पकालीन यात्रा में अमरीका को अधिक से अधिक देख और जानकर श्री नेहरू ने अमरीका से एशिया की ओर उन्मुख होने को कहा। भौगोलिक दृष्टि से अमरीका की 'खिड़कियाँ' युरप और एशिया दोनों की ओर खुलती हैं। फिर वह केवल युरप की ओर ही क्यों झाँके, एशिया की ओर भी क्यों न देखे?

एशिया के नव जागरण के महत्त्व को श्री नेहरू ने अमरीका वासियों, विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों पर यों प्रकट किया "विश्व रंग-मंच पर सर्वोच्च महत्त्व का एक परिवर्तन हुआ है, और वह है एशिया का पुनः जागरण। शायद, जब हमारे इस काल का इतिहास लिखा जायगा, तब एशिया के इस पुराने महाद्वीप एशिया का विश्व राजनीति में पुनः प्रवेश, उस एशिया का पुनर्प्रवेश, जिसने बहुत से उत्थान-पतन देखे हैं, इस ओर अगली पीढ़ी का सर्वाधिक महत्त्व का तथ्य होगा। इस तथ्य से समूचे विश्व का संबंध है, किन्तु अमरीका का विशेष रूप से संबंध है, क्योंकि जहाँ वह आज की विश्व राजनीति मे एक बड़ी शक्ति है, वहाँ उसकी भौगोलिक स्थिति का भी यह तकाजा है कि वह एशिया की ओर उन्मुख हो।

"आज संसार ऐसी समस्याओं से भरा हुआ है जो अब तक हल नहीं हुईं; शायद उन सब समस्याओं को एक ही बड़ी समस्या का भाग समझा जा सकता है। यह समस्या उस समय तक हल नहीं होगी, जब तक कि एशिया को नये जागरण को ध्यान में न रक्खा जाय, क्योंकि एशिया अनिवार्य रूप से राजनीति में बढ़-चढ कर भाग लेगा। एशिया, जो इस समय अपने विकास-कार्यों में उलझा

हुआ है, इस विश्व समस्या को दो बड़े पहलुओं में देखता है—राजनैतिक और आर्थिक। राजनैतिक समस्या यानि कि राजनैतिक स्वतन्त्रताप्राप्ति की समस्या का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उसके बिना प्रभावशाली प्रगति संभव नहीं है। किन्तु राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति में देरी होने के कारण आर्थिक समस्या भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हो गई है। इस तरह एशिया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पहली आवश्यकता है, और यद्यपि एशिया के बहुत से देश आज़ाद हो चुके हैं, फिर भी कुछ साम्राज्यवादी जुए के अन्दर जुते हुए हैं। विदेशी शासन के इन अवशेषों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये जगह छोड़कर जाना होगा, एशियाई जनता की सबसे प्रमुख तड़प राष्ट्रीयता की तड़प है, उस तड़प को पूरा करना होगा। विश्व शांति और स्थायित्व की दृष्टि से तथा एशियायी जनता की दृष्टि से एशिया महाद्वीप की विशाल जनता का आर्थिक विकास समान रूप से आवश्यक है। एशिया के इन देशों में आर्थिक विकास के लिये अधिक से अधिक उद्योग धन्धे चालू करने होंगे और संयुक्त राज्य अमरीका इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भाग अदाकर सकता है।"

एशिया के नये आदमी की आवश्यकताओं का निरूपण करने के बाद श्री नेहरू ने रंगभेद, जातीय भेदभाव और विषमता की ओर संकेत किया। उन्होंने कहा कि भूत काल के इन खंडहरों के लिये आज कोई जगह नहीं है। श्री नेहरू का यह कथन बिल्कुल ठीक है। जिस तरह एशिया का जागा हुआ आदमी अपने पुरुषार्थ की राह में राजनैतिक और आर्थिक दासता को रोड़ा पाता है, उसी तरह युरोप में भी रंग और नस्ल के भेद भाव के शिकार अपने पुरुषार्थ का ठीक प्रकार से उपयोग नहीं कर पाते हैं।

श्री नेहरू ने अपने इस भाषण में एक और बात बहुत पते की कही है। उन्होंने कहा है कि हम इतिहास को नया रूप देने का गर्व तो

करते हैं किन्तु हमारी आँखों के सामने घटती जाने वाली घटनाओं के दासों की तरह हमारे काम करने का तरीका हो रहा है, हमें भय ग्रसे हुए है. और घृणा हमारा पीछा कर रही है। हम बात शांति की करते हैं, तैयारी लड़ाई की।

श्री नेहरू आज के संकट के सुन्दर शब्द चित्र खींचते हुए आज के आदमी की एक और प्रवृत्ति की तरफ संकेत करते हैं, "विश्व ने तक्नीकी और भौतिक दिशा में आश्चर्यजनक प्रगति की है। यह अच्छा है और हमें इस प्रगति का पूरा लाभ लेना चाहिये। किन्तु मानव विकास के लम्बे इतिहास से हमें पता चलता है कि कुछ बुनियादी सत्य और तथ्य होते हैं, जो बदलते हुए जमाने के साथ भी नहीं बदलते और जब तक हम इन सत्यों और तथ्यों से पूरी तरह से बन्धे नहीं रहेंगे, हम रास्ते में भटक सकते हैं। वर्तमान पीढ़ी ज्ञान की आश्चर्यजनक सम्पदा को ग्रहण करने के बावजूद अक्सर भटकी है और हमारे सिरों पर सदा खतरा मंडराता रहा है।"

"तब हममें किस चीज की कमी है और मानव-व्यवहार के इन संकटों को किस तरह से हल कर सकते हैं? मैं कोई देवदूत नहीं हूँ और न कोई मेरे पास जादुई औषधि है। मैंने अपना रास्ता टटोलने की कोशिश की है, सीधी दिशा में सोचने की कोशिश की है, और यथासम्भव विचार और कर्म के समझने की कोशिश की है। मैंने अक्सर ऐसा करने में कठिनाइयों का भी सामना किया है, क्योंकि राजनैतिक क्षेत्र में कोई भी कार्य व्यक्तिगत नहीं होते बल्कि वहां पर काम गुटों और समूहों के द्वारा होते हैं। फिर भी मैं इस बात से आश्वस्त हूँ कि कोई भी नीति, कोई भी विचारधारा, जो मानव-व्यवहार में सत्य और चरित्र की उपेक्षा करती है, और जो घृणा तथा हिंसा का उपदेश करती है, हमें केवल गलत परिणामों की ओर ले जाती है। हमारे मन्तव्य, मुद्दे कितने भी क्यों न अच्छे

हों और हमारे लक्ष्य कितने भी ऊँचे क्यो न हों, यदि हमारे मार्ग और साधन बुरे और गन्दे हैं तो हम कभी भी अपने उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकते। यदि हम शांति चाहते हैं तो हमें शांति के लिये ही काम करना होगा, लडाई के लिये नही। यदि हम विश्व के विभिन्न देशों की जनता में सौमनस्य और सद्भावना चाहते है, तो हमें घृणा का प्रचार अथवा व्यवहार छोडना होगा। यह सही है कि आज दुनिया में हिंसा और घृणा की बहुलता है, किन्तु हम इनकी विजय नहीं होने दे सकते, बिल्कुल उसी तरह जिस तरह हम किसी हमलावर के सामने नहीं झुक सकते। हमें बुराई और हमले का सामना करना होगा; ऐसा करते हुए हमें अपने उद्देश्य और ध्येय ही याद न रक्खेंगे बल्कि जो हम साधन अपनायेंगे, वे भी हमारे साध्यों की तरह शुद्ध होने चाहियें।

"अपनी शानदार सफलताओं के साथ आधुनिक सभ्यताओं के विकास ने सत्ता और अधिकार के केन्द्रीयकरण को ज्यादा से ज्यादा प्रोहत्साहित किया है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक से अधिक अतिक्रमण हो रहे हैं। शायद किसी सीमा तक यह अनिवार्य है, क्योंकि आज की दुनिया काफी हद तक केन्द्रीयकरण के बिना नही चल सकती। लेकिन केन्द्रीयकरण की यह प्रक्रिया हम उस सीमा तक जाते हुए देख चुके हैं कि व्यक्तिगत आजादी करीब-करीब गायब हो रही है। हर चीज में राज्य सर्वोच्च बन जाता है अथवा व्यक्तियों के गुट अपने पास इतनी सत्ता रख लेते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मुरझाने लगती है। भिन्न और कभी-कभी विरोधी विचार-धारायें अपने-अपने दृष्टिकोणों से राज्य अथवा गुट में शक्ति के संग्रह को प्रोत्साहन देती हैं। अंतिम तौर पर इसका परिणाम मानवीय दुःख ही नहीं होता बल्कि मानव प्रगति के लिये आवश्यक सृजनात्मक प्रतिभा भी कुंठित होने लगती है। हमें राज्य की केन्द्रीय

सत्ता और हर व्यक्ति की स्वतंत्रता और अवसर की गारन्टी के बीच एक सन्तुलन लाना होगा।"

"यह हमारी अपनी-अपनी इच्छाओं के अनुसार चीजों को शक्ल देने से पहले मनुष्यों को अपने दिल दिमाग में यह और इस तरह की अन्य समस्यायें हल करनी होंगी। एक विश्वविद्यालय में इन समस्याओं पर विचार करने के लिये और कौन-सी अच्छी जगह हो सकती है, जहाँ नई उभरती पीढ़ी जीवन-व्यवहार में भाग लेने और जिम्मेदारियों को वहन करने के लिये प्रशिक्षित की जा रही है।

"प्रकृति के सौंदर्य, ज्योति और मनुष्य की प्रतिभा से सम्पन्न इस विश्वविद्यालय के रमणीय प्रांगण में खड़े हुए मुझे दुनिया के संघर्ष और कष्ट बहुत दूर नज़र आते हैं। मेरे मानस पर पुरातन इतिहास, एशिया का इतिहास, यूरोप और अमरीका का इतिहास छाया हुआ है और वर्तमान काल की छुरे जैसी नुकीली धार पर खड़ा हुआ मैं भविष्य में झाँकने की चेष्टा कर रहा हूँ। मुझे दुनिया के इस पुरातन इतिहास में प्रतिकूल परिस्थितियों और असीम कठिनाइयों से जूझते हुए मानव की तस्वीर दिखाई देती है। मैं देखता हूँ इन्सान बार-बार शहीद हुए हैं, लेकिन मैं यह भी देखता हूँ कि इन्सान की भावना, उसका पुरुषार्थ बार-बार जागा है और हर मुसीबत पर उसने विजय प्राप्त की है। आओ, हम इतिहास के इस पहलू पर दृष्टि डालें, और इससे बुद्धि और साहस ग्रहण करें तथा अपने विगत और वर्तमान के बोझ से बहुत ज्यादा न दबें। हम बीते हुए तमाम युगों के उत्तराधिकारी हैं और दुनिया में इस महान् अन्तरिम काल में हमें अपना भाग अदा करना है। यह हमारा हक है, हमारी जिम्मेदारी है और हमें बिना किसी भय अथवा आशंका

के इस काम को उठा ही लेना चाहिये। इतिहास में आज़ादी के लिये मानव के संघर्षों की कहानियाँ आई हैं और बावजूद अनेक असफलताओं के, मानव की उपलब्धियाँ और सफलताएं शानदार रहीं। सच्ची आज़ादी केवल राजनैतिक नहीं होती अपितु आर्थिक और अध्यात्मिक भी होती है। सच्ची आज़ादी के वातावरण में मनुष्य विकास करके अपना भाग्य-निर्माण कर सकता है।"

श्री नेहरू का मनुष्य की शक्ति, उसके पुरुषार्थ में बड़ा विश्वास है, पर यह पुरुषार्थ सच्ची स्वतन्त्रता के वातावरण में ही धरती पर स्वर्ग उतार सकता है। श्री नेहरू का अमरीकी धीमानों और छात्रों से इस दिशा में सोचने और कार्य करने का अनुरोध वस्तुतः एकदम भारतीय विचारधारा पर आधारित है। भारत में व्यक्ति अपनी साधना से ज्ञान और विज्ञान की उच्चतम चोटियों पर गया है। हमारा पुरातन समाज व्यष्टि और समष्टि की उन्नति के सम्बन्ध में आदर्श रहा है। साधनाशील ऋषियों और मुनियो के नेतृत्व मे राजशक्ति समाज को लोक-परलोक बनाने के अवसर प्रदान करती थी। हमारे यहाँ चातुरी का अर्थ धर्मार्थ काम मोक्ष की साधना थी : या लोकद्वयी साधना तनुभृतां सा चातुरी-चातुरी। श्री नेहरू का बल मनुष्य में पुरुषार्थ के साथ-साथ मुनिकला के उभार पर है। वह संसार में उत्तम कोटि का मनुष्य चाहते हैं, जो विघ्न-बाधाओं को पार करके ही रहता है :

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रति हन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

बुनियादी समझ

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥

जिसके पास प्रज्ञा (बुनियादी समझ) नहीं है, उसके शास्त्र पढ़ने से भी लाभ नहीं। यह उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे अन्धे के लिए शीशा।

प्रज्ञा-नेत्र ज्योति के सामान है और श्री नेहरू ने सही तौर पर छात्र छात्राओं और युवकों को बताया है कि मन और बुद्धि के द्वार खुले रहने चाहिएँ।

"हमारा चाहे एक वैज्ञानिक का दृष्टिकोण हो, चाहे एक मानवतावादी का दृष्टिकोण हो, और चाहे दूसरे दृष्टिकोण हों, किन्तु, कठमुल्लापन यदि उसमे है तो अनिवार्य रूप से हम मे सकीर्ण बुद्धि पैदा हो जाती है, और हम वह नही देख पाते जो कि हमे देखना चाहिये।"

—जवाहरलाल नेहरू

१२ जनवरी १९५० को कोलम्बो में स्थित श्रीलंका विश्वविद्यालय मे दीक्षात भाषण करते हुए हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने जीवन मे कठमुल्लापन को स्थान न देने का अनुरोध किया। उन्होंने कहा कि जीवन की समस्याओं के प्रति आधुनिक संसार में अनेक दृष्टिकोण है। ये दृष्टिकोण रह सकते हैं, रहेगें भी पर झगड़े की जड़ यह है कि अनेक बार दृष्टिकोणों मे हठवादिता आ जाने से घृणा और हिंसा का विस्तार होने लगता है। यही से, दुनिया में और मानवीय व्यवहार के क्षेत्रों में तनाव शुरू हो जाता है, तंग दिली आ जाती है; और उसका परिणाम यह होता है और कि हम अपनी समस्याओं को हल करने में कठिनाई महसूस करते है और कई बार असफल भी हो जाते हैं।

यह बात है कुछ आश्चर्यजनक, क्योंकि आज जब देश और काल की दूरी हटती जा रही है, और इन्सान-इन्सान के निकट आ रहा है, हमारे मनो मे संकीर्णता के भाव बढते जा रहे हैं। पुराने जमाने में जबकि

एक ही देश में विभिन्न भागों के लोगों को परस्पर मिलने-जुलने में कठिनाइयां पेश आती थीं, मानव-व्यवहार का क्षेत्र सीमित था, और ज्ञान-विज्ञान अधिक समृद्ध न हुए थे, और लोगों को लिखने पढ़ने की भी कम सुविधायें थीं, तब मनुष्य जीवन के प्रति अधिक उदार दृष्टिकोण रखता था।

भारत में लोगों का दृष्टिकोण अधिक सुगठित और व्यापक था। बात यह थी कि उन्होंने समझ लिया था कि शास्त्रों से अधिक प्रज्ञा और लोक-व्यवहार बुद्धि चाहिये। अपनी इस बुनियादी समझ के कारण भारतीय जन संसार में जीवन की ज्योति फैला रहे थे। श्री नेहरू ने श्री लंका विश्वविद्यालय के अधिकारियों, विद्वान प्रोफेसरों और विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए बुनियादी समझ को जाग्रत करने की भावना पर बल दिया। उन्होंने कहा; "यदि विश्वविद्यालय आधारभूत बुद्धि, बुनियादी समझ, नहीं दे सकते, यदि वे केवल ऐसे डिग्री धारी व्यक्ति निकालते जाने की भाषा में ही सोचते रहते हैं जो केवल नौकरियों के इच्छुक हैं, तो विश्वविद्यालय बहुत मामूली हद तक बेकारी की समस्या को हल कर सकेंगे अथवा कुछ इधर-उधर की तकनीकी या अन्य किस्म की सहायता दे सकेंगे; किन्तु वे ऐसे व्यक्ति नहीं पैदा कर सकेंगे, जो आज की समस्याओं को समझ अथवा हल कर सकेंगे।"

श्री नेहरू ने जब जाग्रत एशिया की प्रवृत्तियों की मीमांसा की और कहा कि पिछले तीन सौ या चार सौ वर्षों से ही एशिया की गति में ठहराव आ गया है। बावजूद उसके तमाम गुणों के उसके विचारों और कार्यों में गतिरोध है। स्वभाविक तौर पर और सही तौर पर, वह अधिक प्रगतिशील, सशक्त और प्रबुद्ध देशों का गुलाम हो गया। दुनिया की यही रफ्तार है और यह ठीक भी है।

बहुत समय से सोये हुए एशिया में नये जागरण से पैदा हुई समस्याओं

का श्री नेहरू ने विश्लेषण किया और नवयुवकों एवं नवयुवतियों से कहा,

"आप और मैं आज के बदलते हुए एशिया में रहते हैं। आप में से बहुतों को इन समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, ये समस्यायें आज की अथवा काल की नहीं हैं बल्कि एक पीढ़ी अथवा एक से अधिक पीढ़ी तक ये चल सकती हैं। इन समस्याओं को हल करने की जिम्मेदारी आपकी ही है, क्योंकि हममें से बहुत से, जिनकी आप इज्जत करते हैं, अपने जीवन के आखिरी वर्ष पूरे कर रहे हैं और थोड़े ही वर्ष काम कर सकेंगे। मुझे विश्वास है इन थोड़े वर्षों में हम लोग *अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार अधिक से अधिक बढ़िया काम* करेंगे। और इसलिये, युवा स्नातको! आप तन मन से, यथाशक्ति इन समस्याओं को अधिक गहराई से समझने और तेजी से काम करने तथा उन समस्याओं के हल करने में सहायता देने के लिये तैयार हो जाओ। आज की दुनिया में चीजों पर दूर से निगाह डालने और मात्र शास्त्रीय रुख ग्रहण करने से काम नहीं चलता और न चीजों को देखते रहने तथा दूसरों को सिर्फ सलाह देने अथवा दूसरों की आलोचना करने की ही कोई कीमत है। आज तो हर आदमी को अपनी जिम्मेदारी निभानी होगी। अगर वह अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाता तो वह असफल हो जायगा, वह नगण्य हो जायेगा।"

श्री नेहरू की नवयुवकों से और विशेष कर हिन्दुस्तानी नवयुवकों और नवयुवतियों से यह शिकायत है कि वे जीवन की वास्तविकताओं से *अलग-अलग होकर केवल शास्त्रीय ढंग से सोचते हैं और नई पीढ़ी का दृष्टिकोण जीवन भर कालेज-जीवन जैसा रहता है।* स्कूलों और कालिजों में जिस तरह वे वादविवाद सभाओं में प्रस्ताव पास करके या बहस मुबाहसा करके अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं, उसी तरह वे दुनिया में भी अपने आप ज्यादा न करके दूसरों के विरुद्ध निन्दा के प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा दूसरों की आलोचना करके जीवन को वाद

विवाद सभा का स्वरूप समझ लेते हैं। उनका यह रुझान प्राचीनों की 'दुर्जन-विद्या' श्रेणी में आता है। हमारे यहां दुर्जनों की विद्या केवल विवाद के लिये मानी गई है और साधुओं की विद्या ज्ञान के लिये मानी गई है।

शास्त्रीय विद्या और लोकाचार का समन्वय बड़ा आवश्यक है। प्रचीन गुरुकुलों और ऋषिकुलों में छात्रों को शास्त्र और लोकाचार दोनों पढ़ाये जाते थे। इसी से ब्रह्मचर्याश्रम के बाद वे जब गृस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे, तो ऐतिहासिक, भौगोलिक और वैज्ञानिक सीमाओं के बावजूद वे समर के कुशल सेनानी सिद्ध होते थे। श्री नेहरू के शब्दों में भारतीयों और युनानियों का दृष्टिकोण जीवन के प्रति समग्र होने के कारण उनमें जीवन-समस्याओं को समझने के लिये बुद्धि का वैभव था।

आज की नई पीढ़ी में केवल शास्त्रीय दृष्टिकोण रह जाने की भावना पर खेद प्रकट करते हुए हमारे नेता ने कहा, "यह रुख बहुत सहायक नहीं है। शायद यह रुख इस कारण से पनप गया हो कि पिछले अनेक वर्षों में हममें से बहुत सों को कोई रचनात्मक काम करने का अवसर नहीं मिला। हमारा मुख्य काम अपने देश की आज़ादी के लिये एक विध्वंसात्मक ढंग से, विरोधी भावना से, न कि सृजनात्मक ढंग से, लड़ना था। परिणामतः हम इस निषेधात्मक और विध्वंसात्मक दृष्टिकोण से छुटकारा नहीं पा सके हैं। किसी वस्तु के निर्माण में सहायक होने की बजाय, हम बस बैठे-बैठे उन लोगों की आलोचनायें करते रहते हैं, जो कि सही या ग़लत निर्माण की चेष्टाओं में लगे हैं। कम से कम, वे लोग कुछ बनाने की चेष्टा तो कर रहे हैं। मेरे विचार से कोरी आलोचना करना बहुत ही असहायक और बुरी प्रवृत्ति है। आप चाहे किसी भी देश में हों, आज रचनात्मक और सृजनात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये। निश्चित रूप से जो कुछ बुरा है, उसे हमेशा नष्ट करने की जरूरत

होती है; किन्तु केवल नष्ट करना ही काफ़ी नहीं है । आप को कुछ निर्माण भी करना चाहिये ।

"एक चीज़ और । मैं यह मानता हूँ कि विश्वविद्यालय अनिवार्य रूप से संस्कृति का एक स्थल है, चाहे संस्कृति के कुछ भी अर्थ लगाये जायें । मैं फिर उसी जगह आ जाता हूँ, जहाँ से मैंने यह मुद्दा उठाया था । सभी जगह ढेर सारी संस्कृति है, और सामान्यतया मैं देखता हूँ जो चिल्ला-चिल्ला कर संस्कृति की बात करते हैं, मेरी दृष्टि के अनुसार, उन लोगो में कोई संस्कृति नही होती । सब से प्रथम, संस्कृति में कोई शोर नही होता; वह मौन होती है; वह संयमित होती है, वह सहिष्णु होती है । आप किसी भी व्यक्ति की संस्कृति उसके मौन हावभाव, एकाध वाक्य अथवा ज्यादा तर उसके आम जीवन से जाँच सकते है । संस्कृति का विचित्र सकीर्ण अर्थ आपकी टोपी, आपका भोजन अथवा इसी प्रकार की बाहरी चीजो से लगाया जा रहा है । मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि इन चीजों का भी थोड़ा सा महत्व है, लेकिन जीवन के व्यापक संदर्भ मे इस प्रकार की संस्कृति का नं० दूसरे दर्जे पर आता है ।

"हर देश की अपनी कुछ सांस्कृतिक विशेषतायें होती हैं जो युगों में जाकर विकसित होती हैं । इसी प्रकार, हर युग की एक संस्कृति और उसका अपना एक तौर होता है । एक देश की सास्कृतिक विशेषतायें महत्वपूर्ण होती हैं, और जबतक कि वे युग की भावना के अनुरूप रहती हैं, तबतक उन्हे कायम रखा जाता है । इसलिए हर ढग से अपने राष्ट्र की विशेष संस्कृति को अपनाओ। किन्तु एक चीज राष्ट्रीय संस्कृति से भी गहन तर है और वह है मानव-संस्कृति । यदि आप में वह मानव-संस्कृति, वह आधारभूत संस्कृति नहीं है, तो वह राष्ट्रीय संस्कृति भी निर्मूल है और वह आपके लिए लाभदायक सिद्ध नहीं होगी । आजके दौर में तो और

भी ज्यादा मानव संस्कृति के विकास की, राष्ट्रीय संस्कृति के साथ-साथ विश्व संस्कृति के विकास की, अनिवार्यता बढ़ गई है। आज 'एक दुनिया' की गुहार मची है और मेरा विश्वास है कि कभी-न कभी यह गुहार रंग लायेगी, अन्यथा यह दुनिया खड-खंड हो जायेगी। यह हो सकता है कि हम अपनी पीढी मे उस 'एक दुनिया' को न देख पायें, लेकिन अगर तुम उस 'एक दुनिया' के लिए तैयार होना चाहते हो, तो तुम्हें कम से कम उसके बारे मे सोचना अवश्य चाहिये। आपके पास कम से कम अपनी कायमगी के लिये एक संस्कृति है; और कोई कारण नहीं है कि आप अपने जीवन में संकीर्णता को स्थान दें, और यह सोचने की कोशिश करें कि आप शेष संसार से अधिक ऊँचे हैं।"

श्री नेहरू ने छात्रों और छात्राओं को जहाँ 'बुनियादी समझ' विकसित करने की प्रेरणा दी, वहाँ अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट किया। निषेधात्मक दृष्टिकोण को छोड़कर रचनात्मक और सृजनात्मक प्रवृतियों को अपनाने की सलाह बड़ी शुभ है। विद्या-ग्रहण का अर्थ केवल यर्थ की ही प्राप्ति नही है, बल्कि उसको ग्रहण करने का तात्पर्ययश कमाना भी है। और यश सदा साधु कर्मो से प्राप्त होता है। और साधु कर्म वे ही कहलाते हैं कि जिनसे कायिक, वाचिक, और मानसिक सुख प्राप्त होता हो। उन कर्मों से जहाँ आत्म-विकास होता है, वहाँ परार्थ भी होता है। ये कर्म साधनागम्य होते हैं। इनके लिए अधिक से अधिक मानस-परिष्कार चाहिये। मानस-परिष्कार के लिये, चाहे आधुनिक ढंग अपनाये जायें और चाहे पुराने, परिणाम एक ही होता है। यदि कोई कम्युनिस्ट है, तो वह मार्क्सवादी ढंगों से अपनी मन और मस्तिष्क की शुद्धि करके जन-सेवा के लिए तत्पर हो सकता है; यदि कोई जनतन्त्री समाजवादी है, तो वह उस विचारधारा की क्रियाओं को अपनाकर मानसिक शुचिता प्राप्त कर सकता है, यदि कोई प्रजातन्त्रवादी है तो वह

प्रजातांत्रिक प्रणाली में अपने मन में जन-सेवा के संस्कार भर सकता है; यदि कोई पूंजीवादी है तो वह भी दया, ममता, करुणा और अन्य अच्छी वृत्तियों को अपनाकर सार्वजनिक हित के लिए व्रती हो सकता है ; यदि कोई धार्मिक व्यक्ति है तो वह भी सर्वत्र परमात्मा की लीला का आभास जानकर आध्यात्मिक ढंग से इस संसार को अपनी सेवायें अर्पित कर सकता है। मतलब यह है कि हर व्यक्ति के लिए मानस-परिष्कार की राह खुली है। अपने मन में अच्छे संकल्पों को भर कर शुद्ध भाव से रचना और सृजन का कार्य हर व्यक्ति के लिए सुलभ है। यहीं पर, इसी स्थल पर, नेहरू की 'संस्कृति' का श्री गणेश होता है। नेहरू के अनुसार संस्कृति केवल ऊपरी आवरण नहीं है, अपितु अन्तराल की गहन गम्भीर साधनामयी वह भावना है जो हर समय निर्माणात्मक साधु कर्मों से भरी-पूरी रहती है। संस्कृति में विकार नहीं होता, इसलिए जातीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भेदभाव और द्वेष का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। सम्पूर्ण संसार ऐसी संस्कृति के मानने वालों के लिए अपना परिवार जैसा भासता है। नेहरू संस्कृति के इसी स्वरूप को अपनाने पर बल देते हैं।

श्री नेहरू ने अपनी मनो-भावना को और अधिक साफ करने के लिए कहा, "यदि आप किसी बड़े उद्देश्य को अपना लेते हैं तो उससे आप प्रतिष्ठित होते हैं। उस बड़े उद्देश्य के लिए काम करने का आपको फल मिले या न मिले, उसके लिए काम करना मात्र ही स्वयं में पुष्कल पुरस्कार है।"

श्री नेहरू इस स्थल पर हिन्दू-दर्शन का भी उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार अणु-अणु में दिव्य आभा भास रही है, और उस दिव्य आभा की अर्चा के लिये किसी को भी हेय मानने की गुंजाइश नहीं। श्री नेहरू छात्रों का उद्बोधन करते हुए कहते हैं कि उन्हें अपने मानस में दिव्य प्रकाश भर लेना चाहिये।

श्री नेहरू ने इस भाषण में श्री लंका और भारत के मध्य

बौद्ध धर्म की सांस्कृतिक कड़ी का उल्लेख किया और कहा कि घृणा और हिंसा को छोड़ने सम्बन्धी महात्मा बुद्ध के बुनियादी उपदेश हमारी समस्याओं के सुलझाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

बौद्ध सिद्धान्त 'बुनियादी समझ' और 'बुनियादी संस्कृति' के अंग हैं, इसलिए श्लाघ्य हैं।

गतिशीलता

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

बुद्धिमान अपने आप को अजर-अमर मानता हुआ विद्या और धन का संचय करे, और 'मृत्यु ने मेरे बाल पकड़ रखे हैं' ऐसा समझकर धर्मकार्य में लगा रहे।

गतिशीलता का यही मर्म है, और श्री नेहरू ने इस भाव का निरूपण करके नई पीढ़ी को देशोन्नति और विश्वोन्नति के लिये प्रेरणा दी है।

"मैं जितने अधिक (गुणयुक्त) नेत्र और चेहरे देखता हूँ, मैं उतना ही ज्यादा भारत के भविष्य के प्रति आश्वस्त हो जाता हूँ, यह भविष्य उन पुरुषों और महिलाओं पर निर्भर है, जो साहसी हैं और कठिनाइयों से नहीं भागते।"

—जवाहरलाल नेहरू

३० अक्तूबर, १९५२ को सागर विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने विद्यार्थियों से जड़ता को छोड़कर गतिशीलता को जीवन में अपनाने की बात कही। श्री नेहरू ने यह भी कहा कि गतिशीलता के वरण करने से गुणों में निखार आता है, और गुणों में निखार आने से राष्ट्रीय उन्नति की जड़ें गहरी होती हैं।

यह गतिशीलता आए कैसे ? इसका उत्स कहाँ है ? इसका विकास कैसे होता है ? आदि कई प्रश्न सहजभाव से ही हमारे मन-मस्तिष्क में पैदा हो जाते हैं।

श्री नेहरू ने अपने इस भाषण में इन चीजों को बड़ी सांकेतिक और कहीं विशद रूप से समझाया है। श्री नेहरू के अनुसार गतिशीलता का उत्स मानव की ग्रहणशीलता में है। इस संसार में जहाँ-जहाँ जितना ग्रहणीय है, उसे बिना हिचकिचाहट के ग्रहण कर लेने की जब बान पड़ जाती है, तो जीवन-रथ सुन्दर ढंग से चल निकलता है। कबीर ने इस

ग्रहणशीलता की इस तरह व्याख्या की है :

साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय ॥

सज्जन, उन्नतिशील, की प्रवृत्ति यह होती है कि वह सब कहीं से सार-सार को ग्रहण कर लेता है और थोथा-थोथा उड़ा देता है। उसका यह सूप-स्वभाव उसमें गतिशीलता की भावनायें भर देता है। इसलिए किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र को सूप-स्वभाव का विकास करना चाहिये। भारत में जबतक यह प्रवृत्ति रही, वह उन्नति करता चला गया; और जब उसकी यह प्रवृत्ति मन्द हो गई, तब उसकी अवनति प्रारम्भ हो गई। अनेक हमले भारत ने सहन ही नहीं किये, अपितु हमलावरों को अपना आत्मज बना लिया; भारत की निर्बलता उसकी अपनी ग्रहणशीलता के कारण नगण्य हो गई। यदि भारत की संस्कृति में ग्रहणशीलता के गुण न हुए होते, तो वह संसार के रंगमंच से अन्य प्राचीनतम देशों की तरह से हट गया होता। कालान्तर में जब भारत की ग्रहणशीलता की वृत्ति कम होने लगी, तब उसकी दशा उत्तरोत्तर गिरती गई और युगों तक वह उठ न सका।

इस संबन्ध में एक ही बात सौभाग्यजनक रही कि हमारे पतनकाल में भी ऐसे उदाराशय महापुरुष उत्पन्न होते रहे, जो देश को मिथ्याडंबरों से बचने के लिए और सच्ची संस्कृति के विकास के लिए उद्बोधन करते रहे। उन्होंने जाति-पाँति के पचड़े से बचने, रूढ़ियों को त्यागने और मानवीय गुणों के ग्रहण करने पर बल दिया। इस सब का यह परिणाम हुआ कि देश की नौका ज्यों त्यों चलती रही। और फिर एक ऐसी अनुकूल वायु चली कि देश अवनति के भंवर से निकलकर प्रगति की धार में आ गया और नौका किनारे आ लगी; किन्तु काम अभी समाप्त नहीं हुआ। नौका ने इतने झटके खाये हैं कि वह जीर्ण-शीर्ण हो गई है। उसके नवनिर्माण की आवश्यकता है। यह काम तब हो कि सारे माँझी

-देश के लोग, गतिशीलता की भावना से भर कर कर्मशील हो जाएं।

इस नवनिर्माण के लिये उसी अपनी पारम्परिक ग्रहणशीलता की प्रवृत्ति को पुष्पित करना होगा। क्षुद्र भावनाओं को छोड़कर निर्माण की वांछाओं से उद्वेलित होकर ही यह काम किया जा सकता है। इस काम के लिए किसी की प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं। कहीं से भी, कोई भी व्यक्ति, युवा और युवती कृतसंकल्प होकर छोटे से क्षेत्र में भी अपना दायित्व-निर्वाह करना शुरू कर सकता है। एक का प्रभाव दूसरे पर, दूसरे का प्रभाव तीसरे पर और तीसरे का प्रभाव चौथे पर; इसी तरह एक लड़ी बँधती चली जायगी, मिशनरी जोश से भरे व्यक्तियों की एक लम्बी-चौड़ी टीम तैयार होती जायगी। हमारे यहां ऐसे लोग हैं, पर आवश्यकता उन्हें थपथपाकर आगे बढ़ाने की है, जिससे इस तरह की भावना वाले व्यक्ति समाज में बढ़ते चले जायँ। यह जरूरी नहीं है कि ऐसे व्यक्ति बहुत ज्यादा हों, मगर ज्यादा हों तो और भी अच्छी बात है, पर वीरव्रती यदि एक भी होता है तो वह प्रकाश फैला देता है। एक कहावत है कि सौ मूर्ख पुत्रों से एक गुणी पुत्र अच्छा होता है, क्योंकि उसकी गति चांद जैसी होती है, जो अनन्त तारों से भी प्रकाश-दान में बाजी मारता है।

ऐसा प्रसंग चलने पर बहुधा यह कह दिया जाता है कि ऐसा प्रकाशदान, ऐसा महत्वपूर्ण काम परम मेधावी और प्रतिभाशाली लोग ही कर सकते हैं। ऐसी भावना कार्य को प्रतिहत करती है। यह रुझान गलत है। महत्वपूर्ण काम, चन्द्र-वृत्ति, सब कर सकते हैं, थोड़ी या घनी। इसके लिये तो संकल्प, लगन और श्रम चाहिये। इसलिये इस दिशा में सब आगे बढ़ सकते हैं।

इस स्थल पर एक और भावना मार्ग बाधक बन जाती है, और वह यह कि जनसेवा अथवा देश-सेवा के मार्ग में प्रतिष्ठा, पद और पुरस्कार में धनी वर्ग अधिक लंबे हाथ मार जाते हैं, और निर्धन बेचारे पीछे रह

जाते हैं। यह बात ठीक है। इस भावनागत बाधा को हटाने के लिये दो चीजें ध्यान में रखनी जरूरी हैं। एक तो यह कि देश सेवा सम्बन्धी मिशनरी भावना स्वयं में बड़ी महत्वपूर्ण चीज है, वह खुद व्यक्ति को महान् बनाती चलती है। धनी में मिशनरी भाव कम पाया जाता है, इसलिए निर्धन ही इस भाव का स्वामी होकर महानता के शीर्ष पर अपने चरण रख सकता है। इसके अतिरिक्त निर्धनों की सेवा का फल निर्धनों को ही अधिक मिलता है, क्योंकि हमारे देश में धनी तो मुट्ठीभर भी नही, अधिकांश लोग ग़रीब ही हैं। इसलिये अपने वर्ग की सेवा से ह दृष्टिकोण से ठीक है। दूसरी बात यह कि यदि इसी भावना के वशीभूत होकर मैदान धनिकों के लिए ही छोड़ दिया जाये तो निर्धन किस क्षेत्र में काम करेंगे ? आत्म-निर्माण और फिर समाज-निर्माण के कार्यों में हाथ-पैरों और मन-मस्तिष्क की शक्ति अधिक अपेक्षित है, अर्थ की शक्ति का महत्व इतना नहीं। इसलिये निर्धन वर्ग और उसके युवक युवतियों को साहसपूर्वक इस दिशा में जोश के साथ बढ़ना चाहिये।

इस सम्बन्ध में एक चीज और ध्यान देने योग्य है, वह है आदर्श की। देश की नई पीढ़ी का आदर्श सदा ऊँचा रहना चाहिये। पेट के लिये भोजन चाहिये, और भी दैनिक जीवन की आवश्यकताएं पूरी होनी जरूरी हैं, पर इन सब में उलझ कर रह जाना इष्ट नहीं। एक प्रेरक भावना का रहना जरूरी है। वह भावना यदि नहीं, तो काम चलना कठिन है। देश अथवा मानव-समाज के विकास के लिये निर्माण, सृजन तथा अन्य अच्छी वृत्तियों से सम्बन्धित आदर्श रखने चाहियें। जब आदर्श सामने होते हैं और व्यक्ति अथवा समूह उनकी पूर्ति के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ होता है तो उसमें विचित्र साहसिक भावनाएं भर जाती हैं आदर्श सामने होने पर सद्महत्वाकांक्षाएं मनुष्य को तेजी के साथ बढ़ा ले चलती हैं। श्री नेहरू ने सागर विश्वविद्यालय से यह आशा की कि वह इस प्रकार के व्यक्तियों का निर्माण करेगा।

श्री नेहरू का यहाँ एक चीज पर और बल है। उन्होंने कहा कि

विज्ञान की गति ने विश्व के ठहराव को काफ़ी हद तक तोड़ कर मानव-सम्बन्धों मे एक नया रिश्ता पैदा किया है और गतिशीलता को प्रोत्साहित किया है। उसके लिये भारत में भी अनेक वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं खोली गई हैं, जिन से कि हमारा देश इस वैज्ञानिक युग मे दूसरे देशो के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सके, विज्ञान और ज्ञान दोनों का तकाज़ा है कि आज के युग मे अपनी उन्नति के लिए हमें अपने दृष्टिकोणों को विशद करना होगा, अपने घर के दर्वाज़ो को खुला रखना होगा। इसके बिना काम चलना कठिन है।

गतिशीलता की भावना को हृदयंगम करने के लिये श्री नेहरू के ये शब्द याद रखने योग्य हैं: "अग्रहणशीलता की प्रत्येक प्रक्रिया के अर्थ हैं संस्कृति का अभाव; ग्रहणशीलता की प्रत्येक प्रक्रिया का अर्थ है विकास। वे तत्व, जो चीज़ों को ग्रहण न करने में विश्वास करते हैं और उन्हें पीछे फेंकते हैं, दिमाग़ को संकीर्ण करते है और उससे देश गतिरोधात्मक संस्कृति के युग की ओर पीछे चला जाता है। हमे तो गतिशील होना है, अन्यथा हम जीवित नही रह सकते।

"क्या आप यह महसूस करते हैं कि पिछली कई पीढ़ियों में दुनिया में कितनी गजब की तब्दीलियाँ आई हैं? मैं चाहता हूँ कि आप इन तब्दीलियों के बारे में सोचें। उदाहरण के तौर पर हिंदुस्तान को ही ले लें। अशोक अथवा अकबर के जमाने का कोई आदमी अगर आज से १५० वर्ष के पहले के भारत को देखता तो उसे तब्दीलियाँ तो ज़रूर नज़र आतीं। लेकिन कोई बुनियादी तब्दीली नजर नहीं आती। उस समय तक मानवीय जीवन का ढाँचा बदला न था। १५० वर्ष पहले भी घोड़ा याता-यात और वाहन का प्रमुख साधन था। हज़ारों सालों से घोड़ा प्रमुख वाहन चला आ रहा था। अचानक ही—मुख्यतया विज्ञान के

में हुए विकास ने ही दुनिया का कितना ढांचा बदल डाला, यह देख कर आश्चर्य होता है। आप पाँच सौ वर्ष पहले ठहराव की स्थिति में रह सकते थे, किन्तु आज के युग में किसी के लिए भी संभव नहीं। हर चीज बदल रही है। परिवर्तन का कदम और प्रवाह बहुत ही जबर्दस्त है। सौभाग्य से पिछले पाँच वर्षों में जो हमने अच्छी चीजें की हैं, उनमें से एक यह भी है कि हमने कई राष्ट्रीय प्रयोग शालाएं क़ायम करली हैं। गतिरोध में रहना बुरा है, क्योंकि कोई भी देश ऐसी हालत में एक जगह खड़ा हो जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि वह खत्म हो जाय। इसके अलावा, आज ऐसे रहना संभव भी नहीं। वर्षों पहले ऐसा संभव भी हो सकता था, जबकि परिवर्तन की गति धीमी थी और अवशिष्ट संसार इतना निकट नहीं हुआ था।

"गतिशील और सृजनशील होना व्यावहारिक नीति अथवा संस्कृति का उच्चतर दृष्टिकोण है। इस बात के बावजूद कि हिन्दुस्तान अत्यधिक समृद्ध परम्परा का देश है, मानस की संकीर्णता में डूबना भयावह है। आप में से कितनों की गतिशील दृष्टि है, और आप में से कितने जहाँ-तहाँ सरकारी नौकरियां लेने की सोच रहे हैं? चाहे आप सरकारी नौकरी में जायं और चाहे कुछ और काम करें, देखना यह होगा कि आपका आदर्श क्या है? क्या कुछ सौ रुपये कमाना मात्र, अथवा कुछ सृजनात्मक और अच्छी वस्तु की प्राप्ति?"

इस आदर्श के आलोक में ही चलकर नवयुवक और नवयुवतियाँ अपना, अपने समाज का और देश का भला कर सकते हैं।

सुन्दर संसार

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तंधनम् ।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ॥
विद्या बन्धुजनो विदेश गमने विद्या परं दैवतम् ।
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्या विहीनः पशुः ॥

विद्या मनुष्य का अत्यन्त गुप्त धन है। विद्या से भोग (विलास), यश भी प्राप्त होता है। विद्या ही सबकी गुरु है। विदेशों में विद्या ही बन्धु-बान्धव है। विद्या ही उच्च देवता है, राजाओं में विद्या का ही आदर होता है। विद्या से रहित मनुष्य पशुवत् है।

नन्हे मुन्नों का संसार 'सुन्दर संसार' है, और इस 'सुन्दर संसार' से ही शिक्षा के वे सूत्र निकल सकते हैं, जो बड़ों के लिए भी जरूरी हैं। नेहरू के निष्कर्ष मनन योग्य हैं, और मनन के बाद बच्चों में आरोपण योग्य।

"हमारा देश बहुत बड़ा है और हम सबको यहाँ बहुत कुछ करना है। यदि हममें से हर कोई अपना-अपना थोड़ा-थोड़ा काम करे, तो भी बहुत बडा काम हो जायेगा और देश उन्नति के रास्ते पर तेज़ी के साथ आगे बढ जायेगा।"

—जवाहरलाल नेहरू

नेहरू जी हमारे सम्पूर्ण देश में और बाहर भी 'चाचा नेहरू' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी जन्म तिथि १४ नवम्बर देश भर में बाल दिवस के रूप में मनाई जाती है। जहाँ-तहाँ बच्चों की परेड होती है, खेल-कूद होते हैं, बाल मेले लगते हैं और तरह-तरह के अभिनय, नाच-रंग होते हैं। नेहरू जी यथा सभव बाल समारोह में भाग लेते हैं। दरअसल हमारे प्रधान मन्त्री को बच्चे बहुत प्यारे हैं, वह जहाँ जाते हैं, वहाँ अगर उन्हें बच्चे दिखलाई दे जायें तो वह, चाहे थोड़े समय के लिये ही हो, उनसे अवश्य ही हँस बोल लेते है। और बच्चे भी 'चाचा नेहरू' से मिलने का कोई अवसर नही छोड़ना चाहते।

नेहरू जी ने देश की नई पीढ़ी को सम्बोधित करते हुए अनेक भाषण किये हैं और उनकी समस्याओं पर भी कई बार काफ़ी कुछ कहा है। किन्तु बच्चों के नाम उनके सम्बोधन बहुत कम आये। यह स्वाभाविक भी है। देश और मानवता के लिये समर्पित संघर्षपूर्ण और व्यस्त जीवन से यह आशा भी कैसे की जा सकती है कि वह बालकों के प्रति भी उतना ही

विशद् और विस्तृत भाषण करें जितने अन्य वर्गों के प्रति करते हैं। वर्षों पहले उन्होंने जेल से अपनी पुत्री इन्दरा के नाम, जो आजकल देश की सबसे बड़ी संस्था कांग्रेस की अध्यक्षा हैं, पत्र लिखे थे जो पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए हैं। इन पत्रों में श्री नेहरू ने एक बालक की सहज उत्कण्ठा और उत्सुकता को शांत करने के लिये अनेक बातें लिखी हैं। पुत्री के नाम पिता के ये पत्र उठती-उभरती बाल और किशोर पीढ़ी के लिये बड़ा महत्वपूर्ण साहित्य बन गये हैं।

इस पुस्तक में हमने श्री नेहरू के नवयुवक और नवयुवतियों के उद्बोधन के लिये किये गये भाषणों पर सक्षिप्त मीमांसा की है। आज़ादी के बाद श्री नेहरू ने बहुत कम अवसरों पर बच्चों के बारे में कुछ बोला या लिखा है। ३ दिसम्बर १९४९ और २६ दिसम्बर १९५० को राजधानी से प्रकाशित एक साप्ताहिक के बाल विशेषांकों में उनके दो अत्यन्त छोटे-छोटे लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें उन्होंने बच्चों से यों बातें की हैं जैसे कि बच्चे उनके पास बैठे हुए हों।

बच्चों को संसार, देश और समाज की समस्याओं को सोचने-समझने की चाहे सूझ-बूझ न हो, किन्तु उनका कौतूहल सदा जागा हुआ रहता है। वनस्पति, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, और संसार की नई पुरानी ईजाद, संक्षेप में जो कुछ भी उनके सामने दृश्यमान जगत आता है, उसे वे अपनी बाल-सुलभ चंचलता और कौतूहल वृत्ति से जानने-बूझने की चेष्टा करते हैं। उनकी इस ज्ञान की प्यास को घर में सबसे पहले माँ-दादी अथवा नानी या अन्य कोई सहृदय महिला शान्त करने की चेष्टा करती है; उसके बाद पिता, उसके बाद गुरु अथवा आचार्य। इसी भावना को लेकर वेद में कहा गया है: 'मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान् भव।' राष्ट्र के प्रधान की हैसियत से श्री नेहरू के उद्देश्यों में माता-पिता और आचार्य तीनों के उपदेश समाविष्ट हो जाते हैं। इस रूप में बाल विद्यार्थियों को उनकी बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। पर नेहरू की एक विशेषता यह है

कि न तो वह बड़ों पर और न छोटों पर अपना विचार लादना चाहते हैं। वह स्वभाव से जनतन्त्रवादी हैं। और बच्चों के मामले में तो उन्होंने और भी प्यारा रूप ग्रहण किया है। माता-पिता और आचार्य के अतिरिक्त एक और भी आत्मीयजन होता है जो बच्चों की हित भावना में रमा रहता है। उसे चाचा कहते हैं। बच्चे चाचा से दुलार मे ही उपदेश पाते है। चाचा का प्यार और हितवान्छा जगत प्रसिद्ध है। श्री नेहरू ने इसी स्वरूप को अंगीकार करके देश की नई पोद को दुलार किया है।

श्री नेहरू ने देश के नन्हे मुन्नों से दुनिया की सुन्दरता का वर्णन करते हुए उनसे अच्छी-अच्छी चीजो को ग्रहण करके अपने देश को आगे बढ़ाने का आग्रह किया है। उन्होंने कहा है, "हमारे चारों ओर इतनी खूबसूरती है, और फिर भी हम बड़े-बुढे लोग है इसे भूलकर अपने दफ्तरों मे खो जाते हैं और यह सोचते है कि हम बड़ा महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं।

"मैं आशा करता हूँ कि तुम अधिक समझदारी से काम लो और अपने चारों ओर फैले हुए सौन्दर्य और जीवन को आँख-कान खोलकर देखोगे और सुनोगे। क्या तुम फूलों को उनके नामों से जान सकते हो और चिड़ियों की चहचहाहट और उनके गाने सुन कर उनके नाम बता सकते हो? फूलों और चिड़ियों के साथ ही नहीं बल्कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के साथ दोस्ती कर लेना कितना आसान है, शर्त सिर्फ यही है कि उनके पास प्यार और दोस्ती की भावना के साथ जाओ। तुमने पुराने जमाने की कहानियाँ और परियों की दास्तान पढ़ी होगी। दुनिया भी तो परियो की सबसे बड़ी कहानी है, साहस की कहानी है, ऐसी कहानी आज-तक कभी नही लिखी गई। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हम अपनी आँखें खुली रखें जिससे कि सब कुछ देख सकें, और कान खुले रक्खें जिससे कि सब

कुछ सुन सकें, हमारा दिमाग भी चौकन्ना रहना चाहिये जिससे कि हम संसार के जीवन और सौन्दर्य को जान सकें।

"बड़े बूढ़े लोग अपने को बड़े अजीबो-गरीब ढंग से खानों और गुटों में रख लेते हैं। वे हदें खींच कर यह सोचते हैं कि उन खास हदों से बाहर के आदमी अजनबी हैं जिनसे उन्हें नफरत करनी ही चाहिये। बड़े बूढ़े धर्म, जाति, रंग, पार्टी, राष्ट्र, प्रदेश, भाषा, रीति-रिवाज, धन और गरीबी की दिवारें खड़ी कर लेते हैं और इस तरह वे अपनी बनाई हुई जेलों में रहते हैं। सौभाग्य से बच्चे अलहदा करने वाली इन दीवारों के बारे में ज्यादा नहीं जानते हैं। वे एक दूसरे के साथ खेलते हैं अथवा काम करते हैं और इन दीवारों के बारे में तो उन्हें बड़ा होने पर ही अपने बुजुर्गों से पता चलता है। मुझे आशा है कि तुम्हें अभी बड़ा होने में बड़ा वक्त लगेगा।

"मैं हाल ही में संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और इंग्लैंड गया था। दुनिया के दूसरे कोने की तरफ यह एक लम्बा सफर था। मैंने उन देशों में भी यहीं जैसे बच्चे पाये और इसलिये मैंने आसानी से उनके साथ दोस्ती कर ली, और जब-जब मुझे मौका मिला, तो मैं उनके साथ खेला भी। बड़े-बूढ़ों के साथ हुई मेरी बहुत-सी बात चीतों से बच्चों के साथ हुई ये मुलाकात ज्यादा दिलचस्प थी। क्योंकि दुनिया में सब जगह बच्चे एक से ही हैं; ये तो बड़े-बूढ़े ही हैं जो अपने को अलग-अलग समझते हैं और जान-बूझ कर अपने को अलग-अलग दर्शाते हैं।

"कुछ महीने पहले जापान के बच्चों ने मुझे लिखकर एक हाथी की माँग की थी। मैंने हिन्दुस्तान के बच्चों की तरफ से उन्हें एक सुन्दर हाथी भेज दिया। यह हाथी मैसूर का था और जापान समुद्र-मार्ग से भेजा गया। जब यह टोकियो पहुँचा वहाँ हजारों बच्चे उसे देखने के लिये आये। उनमें से बहुतों ने कभी पहले हाथी न देखा था। यह भव्य पशु उनके लिये भारत का प्रतीक बन गया

और जापानी बच्चों का हिन्दुस्तानी बच्चों के बीच एक कड़ी बन गया। मुझे बहुत खुशी हुई कि हमारा यह उपहार जापान के बच्चों के लिये कितनी अधिक खुशी का कारण बना और जापानी बच्चों नें इस उपहार के कारण हिन्दुस्तानी बच्चों के बारे में सोचा। हमें भी जापानी बच्चों के देश, और दुनिया के अन्य देशों के बारे मे सोचना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि हर जगह तुम्हारी तरह स्कूल जाने वाले और खेलने वाले बच्चे हैं, जो कभी-कभी लड़ते-झगड़ते भी हैं लेकिन दोस्ती तो हमेशा करते हैं। तुम इन देशों के बारे मे अपनी किताबों में पढ सकते हो और बड़े होने पर तुम मे से बहुत उन देशों मे घूमने भी जा सकते हो। वहां पर दोस्तों की तरह जाओ और वहाँ के बच्चे भी दोस्तों की तरह तुम्हारा अभिनन्दन करेंगे।

"तुम जानते हो कि हमारे यहाँ एक बहुत बड़े आदमी हो गये हैं जिनका नाम महात्मा गाँधी था। हम उन्हे प्यार से बापू भी कहा करते थे। वह बड़े अक्लमन्द थे लेकिन अपनी अक्लमन्दी जतलाते न थे। वह सरल थे और बहुत से मामलों मे बच्चों की तरह थे और बच्चो को प्यार भी करते थे। वह हर किसी के दोस्त थे और हर कोई, किसान हो अथवा मजदूर हो, गरीब हो या अमीर हो, उनके पास आकर मैत्रीपूर्ण स्वागत प्राप्त करता था। बापू जी न सिर्फ हिन्दुस्तानियों के बल्कि दुनिया के तमाम लोगों के दोस्त थे। उन्होंने हमें किसी से नफरत न करने की, न लड़ने झगड़ने की सीख दी उन्होंने एक दूसरे के साथ खेलने और अपने देश की सेवा के लिये एक दूसरे के साथ सहयोग करने की सीख दी। उन्होंने किसी से न डरने और दुनिया का हँसी-खुशी के साथ मुकाबला करने का उपदेश दिया।" (३ दिसम्बर १९४९ को नई दिल्ली के शंकर्स वीकली के बाल विशेषांक से उद्धृत।)

इन शब्दों में राष्ट्रनायक श्री जवाहरलाल नेहरू ने बच्चो को

जो सीख दी है, वह निश्चित रूप से श्रेष्ठ है। बच्चे हमारे यहाँ भगवान का स्वरूप माने गये, हैं और भगवान के यहाँ भेद-भाव की गुंजायश ही क्या ? बच्चों को अपने पराये का क्या पता ? यदि मनुष्य यह बाल-प्रवृति बड़ा होने पर भी कायम रख सके तो संसार के अधिकांश झगड़े समाप्त हो जायें। बहुधा हम लोग अपनेपन और परायेपन के राग-द्वेष में फँस कर अनेक टन्टे मोल लेते हैं।

२६ दिसम्बर १९५० को शंकर्स वीकली के दूसरे बाल विशेषांक में श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक लेख में इसी बात पर पुनः बल दिया कि जाति, रंग और पद के भेदभाव भुलाकर आपसदारी से रहना चाहिये। बाल स्वभाव की इस विशेषता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा,

"बच्चे अपने माता-पिता से अधिक बुद्धिमान होते हैं। लेकिन दुर्भाग्य वश वे ज्यों ज्यों बड़े होते हैं उनकी स्वाभाविक बुद्धिमत्ता पर बड़े-बूढ़ों की नसीहत और व्यवहार का बुरा असर पड़ जाता है। स्कूलों में वे ऐसी बहुत सी चीजें सीखते हैं, जो निसन्देह ही उपयोगी होती हैं किन्तु धीरे-धीरे वे यह भूल जाते हैं कि सबसे जरूरी चीज इन्सान होना है, दयालु होना है, हँसमुख होना है, और अपने लिये तथा दूसरों के लिये जीवन को अधिक समृद्ध बनाना है। हम सौन्दर्य, आकर्षण और रोमांच से भरे हुए आश्चर्यजनक संसार में रहते हैं। यदि हम अपनी आँखें खोल कर चलें तो हमारे लिये रोमांचों का कोई अन्त न रहे। बहुत से लोग अपनी आँखें बन्द किये अपनी जिन्दगी के कारोबार में लगे रहते मालूम पड़ते हैं। वस्तुतः वे दूसरे लोगों पर भी आँखें खुली रखने पर एतराज करते हैं। वे खुद तो खेल नहीं सकते, दूसरों का खेलना भी उन्हें नहीं सुहाता।"

श्री नेहरू बच्चों को निडर रहने की सीख देते हैं। उनका कहना है कि यदि हम दूसरों को हानि न पहुंचाने की नियत से देखेंगे तो उनसे भी हानि न मिलने की आशा की जा सकती है। श्री नेहरू का कहना है कि दूसरों से मैत्रीपूर्ण ढंग से मिलना चाहिये। हमें दूसरों से न डरना

चाहिये और न नफरत करनी चाहिये। जीवन के इन सत्यों को संसार युगों से जानता है लेकिन, जैसा कि श्री नेहरू का कहना है, "वह उन सत्यों को भूल जाता है और एक देश के लोग दूसरे देशों के लोगों से डरने और नफरत करने लगते हैं और क्योंकि वे डरते हैं इसलिये कभी-कभी बेवकूफी में आकर आपस में लड पडते हैं।"

बालकों से बुजुर्ग बहुत कुछ सीख सकते हैं। यहीं तक नहीं अपढ़ और अर्द्धशिक्षित माँ-बापों के भी बच्चे एक तरह से नेता बन सकते हैं। अक्टूबर '५६ को दिल्ली नगर निगम में निःशुल्क दूध वितरण योजना का उद्घाटन करते हुए श्री नेहरू ने इस बात को इस तरह से समझाया था:

"बच्चों को स्कूलों मे अच्छी शिक्षा दी जाती है। वे बच्चे उसकी चर्चा घर मे करते हैं, जिससे मध्यम परिवार के माता-पिताओं को लाभ होता है।"

१४ नवम्बर '५६ से अ० भा० प्रकाशक संघ ने बाल-साहित्य-सप्ताह का आयोजन किया था, उसमे अपना सदेश भेजते हुए श्री नेहरू ने बच्चों के लिये ज्यादा से ज्यादा साहित्य लिखे जाने पर बल दिया। उन्होंने जनता से पुस्तक खरीदने की आदत डालने के लिये भी कहा। हमारे यहाँ पुस्तक खरीद कर पढ़ने की आदत नही। इससे यह पीढ़ी तो हानि भोग ही रही है, नई पीढी को भी इससे नुक्सान है, बच्चो को भी नुक्सान है। अगर बुजुर्ग किताब खरीद कर पढ़ें तो छोटो को भी वह बान पड़ जाय।

श्री नेहरू बच्चो को बडा क्याल करते हैं। १६५५ में नई दिल्ली में जो फिल्म-गोष्ठी हुई थी, उसमे उन्होने अधिक से अधिक बाल फिल्म बनाने की बात कही थी। बाल-विकास पर ध्यान देना आने वाली पीढ़ियों को अधिक सुन्दर बनाने में योग-दान देना है।

मां का प्रशिक्षण

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता: ॥
यत्रे तास्तुनहि पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला:क्रिया: ॥

जहाँ नारियों का सम्मान होता है, वहाँ देवता रमण करते हैं
किन्तु जहाँ उनका सम्मान नहीं होता वहाँ सम्पूर्ण कर्म निष्फल होते हैं

इस नारी महिमा को नेहरू पूरी तरह मानते हैं। उनके मा
जीवन पर भी माँ का प्रभाव है । सबकी माँ, नेहरू की माँ
शिक्षिता हों।

"हम स्कूल और कालिजों की बात करते हैं, जो कि निस्सन्देह *महत्वपूर्ण है, किन्तु एक व्यक्ति का निर्माण न्यूनाधिक रूप में,* उसके जीवन के पहले दस वर्षों में होता है। जाहिरा तौर पर, उस अवधि में माता का ही सबसे अधिक प्रभाव होता है, इसलिये अनेक प्रकार से सुशिक्षित माँ शिक्षा के लिये अनिवार्य बन जाती है।"

—जवाहर लाल नेहरू

मद्रास के तिनामपैठ नगर में महिला कालिज का शिलान्यास करते ए *प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने समाज में महिलाओं की* क्षणिक स्थिति के सम्बन्ध में भाषण किया। इस भाषण में उन्होंने स बात पर बल दिया कि महिलाओं की प्रगति समाज के हर क्षेत्र में नी चाहिये। उन्होंने एक फ्रेंच लेखक के इस कथन को भी उद्धृत या ; "अगर आप मुझसे यह मालूम करना चाहते हैं कि कोई राष्ट्र स किस्म का है या उसका सामाजिक ढांचा कैसा है, तो उस राष्ट्र में हिलाओं की क्या स्थिति है, यह मुझे बतला दीजिये।"

निस्सन्देह किसी भी देश अथवा राष्ट्र का चरित्र उस देश अथवा ष्ट्र की महिलाओं की सामाजिक स्थिति से मालूम हो जाता है। हमारे श में किसी जमाने में महिलाओं की स्थिति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। दिक काल में आर्य महिलायें जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठित

स्थान प्राप्त थीं। वेदों की अनेक ऋचाओं का प्रणयन आर्य विदुषियों ने किया। इस सम्बन्ध में गार्गी और मैत्रेयी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कालान्तर में भी महिलाओं ने भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में खूब काम किया। महिलाओं की सामाजिक स्थिति में विशेष अन्तर दसवी शताब्दी से हुआ, जबकि हमारे देश पर विदेशी हमले आरम्भ हो गये। हमारे यहाँ पर्दा-प्रथा भी अधिकांश मुस्लिम सभ्यता की देन है। फिर भी मध्यकाल का भारतीय इतिहास वीर ललनाओं की शौर्य पूर्ण कहानियों से भरा पड़ा है। हिन्दुस्तान की क्षत्राणियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिये हँसते-हँसते आग में कूद जाती थी। हिन्दुस्तान की इस प्रबल नारी-भावना की देश-विदेश सब जगह प्रशंसा हुई है। न केवल एशिया, बल्कि युरोप मे भी, हिन्दुस्तान की नारी का ज्वलंत चरित्र आदर के साथ देखा गया है। नादिरशाह दिल्ली के लाल किले में हिन्दू बेगमों में वह पुराना पारम्परिक जोश न देख कर चिल्ला उठा था, और उसने यह कहा था कि हिन्दुस्तान के पतन का कारण भी महिलाओं का चारित्रिक ह्रास है। उस गये बीते काल में भी देश के विभिन्न भागों में ऐसी वीर मातायें होती रही, जो स्वयं और अपनी सन्तान को भी जातीय गौरव की भावनाओं से भरती रही। शिक्षा के प्रभाव में भी भारतीय माताओं ने रामायण और महाभारत की मौखिक गाथाओं से अपनी सन्तानों को अनुप्राणित किया। बाद में भी जीजाबाई जैसी माँ हुई, जिसने शिवाजी जैसा ऐतिहासिक वीर पुत्र पैदा किया। वीर पुत्रों के निर्माण की भी अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ भारत के विभिन्न प्रदेशों में मिलती हैं।

इस देश ने नारी का जहाँ सरस्वती, लक्ष्मी और अन्नपूर्णा का रूप देखा, वहाँ उसका दुर्गा रूप भी उसने देखा। हमारे यहाँ नारी का समग्र रूप एक दम पूर्ण रहा, और इस देश की पुरातनता को देखते हुए यदि इसके प्रागैतिहासिक काल को भी देखा जाये, तो हम देखेंगे कि उस

समय समाज का ढांचा मातृसत्तात्मक था । उस समय नारियाँ ही समाज की संचालिका होती थीं । इतनी बड़ी नारी प्रतिष्ठा मूलात्मक परम्पराओं के कारण ही यह देश अपने गम्भीर पतन काल में भी अपनी संस्कृति की ध्वजा को फहराता रहा । घोर साम्प्रदायिक में युगों मे भी संश्लिष्ट संस्कृति का सन्देश यहाँ की नारियाँ देती रहीं । उनके अनेक कार्य समिश्र संस्कृति के द्योतक रहे हैं । भारत की नारी ने किसी भी समय सत् के प्रति अपनी श्रद्धा को डावाडोल नही किया । घर में, समाजमें और रण मे वह सद्पक्ष के लिये बिजली के समान कौंधी है । सीता, सावित्री, अनसूया और पद्मिनी जैसी सन्नारियों की इस पवित्र भूमि मे, घोर अन्धकार युग में भी रानी लक्ष्मीबाई जैसी वीरांगणा जन्म लेती रही हैं । अंग्रेजों के विरुद्ध आजादी की लड़ाई मे एक दो नहीं बल्कि हजारों महिलाओ ने न केवल अपने पति-पुत्रो को बल्कि स्वयं को भी ला खड़ा किया । और अब आजादी के बाद भी हमारी महिलायें राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता पूर्वक काम कर रही हैं । इससे अपने देश का गौरव है ।

इतना होते हुए भी आज के वैज्ञानिक युग मे महिलाओं की उन्नति के लिये उनके नियमित प्रशिक्षण की ओर ध्यान देना अनिवार्य हो गया है । जमाने का तकाजा है कि महिलायें पूर्ण शिक्षित होकर समाज के निर्माण और उत्थान में पूरा-पूरा हाथ बटायें । श्री नेहरू का यह कहना बिल्कुल ठीक है—"यह विचार कि महिलाओं को अधिकांश काम धन्धों से अलग रखा जाना चाहिये । इस युग की भावना से मेल नहीं खाता । यह हो सकता है कि कुछ धन्धे महिलाओं के लिये उपयुक्त न हों, किन्तु यह एक अलग चीज है । बहुत से ऐसे धन्धे हैं, जिनमें वे लग सकती हैं, और वास्तव में वे लगी हुई भी हैं । यदि हम इस चीज का ध्यान पूर्वक विश्लेषण करें तो हम पायेंगे

कि भारत की औसत नारी मेन में काम करती है। देखा जाये तो पुरुष और नारी दोनों ही खेतों में काम करते हैं। स्त्री-पुरुष में भेद का प्रश्न मध्यवित्त परिवारों में पैदा होता है। हमारी महिलाओं की बहुत बड़ी तादाद को इसलिये भी काम करना पड़ता है, क्योंकि आर्थिक परिस्थितियाँ उन्हें काम करने के लिये मजबूर करती हैं। दुर्भाग्य से यह विचार अब तक छाया रहा है, किन्तु मुझे खुशी है कि यह विचार अब तेजी से खत्म होता जा रहा है कि जो जितना कम काम करता है उसका समाज में उतना ही बड़ा दर्जा होता है। इस तरह उस आदमी का सब से बड़ा दर्जा होता है, जो बिल्कुल काम नहीं करता। मेरे अपने प्रांत में, आप एक औरत को अपने मर्दों के साथ खेत में या कहीं और काम करते हुए देख सकते हैं, लेकिन जब पति ज्यादा कमाने लगता है, तो यह सोचा जाने लगता है कि अब औरत को घर में बैठना चाहिये। कुछ काम न करना ऊँची परिस्थिति की निशानी मानी जाती है। यह तमाम मनोवृत्ति हमारे युग के अनुरूप नहीं है। मेरे अपने सूबे में आप में से कुछ ने अवध की बेगमों के बारे में अजीब कहानियाँ सुनी होंगी। वे इस कदर नाजुक मिजाज थीं कि दूर से ही नारंगी या सन्तरा देखकर उन्हें जुकाम हो जाता था। कहा जाता है कि हरम में किसी डाक्टर या हकीम को जब बुलाया जाता था तो वह नाड़ी नहीं पकड़ता था, क्योंकि ऐसा करना न केवल अनुचित समझा जाता था, अपितु यह भी खयाल किया जाता था कि इससे बेगमों की नाजुक कलाइयाँ झटका खा जाएँगी। इसलिये कलाई में धागा बाँध कर हकीम के हाथ में पकड़ा दिया जाता था और वह दूर से ही नाड़ी-परीक्षा करता था। यह उस मामले में नाड़ी-परीक्षा का सुन्दर ढंग हो सकता था, क्योंकि हरम की उन औरतों को कोई रोग नहीं होता था और उन्हें किसी इलाज की जरूरत भी नहीं थी। इसलिये उनकी नाड़ी के गति के तेज या धीमे चलने से कोई फ़र्क

नहीं पड़ता था।

"पुराना जमाना अब लद चुका और हर स्त्री और पुरुष को शारीरिक रूप से सुन्दर और स्वस्थ तथा मानसिक रूप से चुस्त होकर रचनात्मक, उत्पादनात्मक काम करना होगा। जमाना जल्दी ही आ रहा है, जबकि लोग उस व्यक्ति को सहन नहीं करेंगे, जो काम नहीं करता। इसलिये शिक्षा की स्वतः सिद्ध वांछनीयता के अतिरिक्त, लोगों को आत्म-रक्षा की भावना से भी, चाहे आत्म-रक्षा एक राष्ट्र के मुकाबले करनी हो और चाहे अंदरूनी तौर पर, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।"

श्री नेहरू ने सुन्दर शब्दों में मध्यपाकालीन नारी की हीनावस्था का चित्र खींचकर नारी की सामाजिक उपयोगिता दर्शाई है। भारत की किसान महिला तथा मजदूरिन गये बीते काल में भी उत्पादन में भाग लेती रही है। मध्यवित्त परिवार उच्च सामंती तथा धनिक परिवारों की देखा-देखी अपनी महिलाओं को परदानशीन बनाये रहे हैं और पर्दा खुलने के जमाने में भी श्रम की प्रतिष्ठा के कारण महिलाओं को समाजोपयोगी कार्यों में लगाया जाना अनुचित माना जाता रहा है, पर अब आर्थिक तंगी ने पुरुष वर्ग के दृष्टिकोण में परिवर्तन किया है, परिणामतः बड़े शहरों में स्त्रियाँ पढ़ लिखकर दफ्तरों, स्कूलों तथा समाज कल्याण-क्षेत्रों में नौकरियाँ करने लगी हैं। इस दृष्टिकोण को आज और भी विशद करने की आवश्यकता हो गई है। देश को आज अधिक से अधिक उत्पादन की आवश्यकता है। देश के लिये आवश्यकता भर उत्पादन तब पूरा होगा, जब कि देश के समस्त हाथ उसकी पूर्ति के लिये लगेंगे। नारियों के हाथ भी उसमें लगेंगे। उसके बिना काम नहीं चलने वाला है। विश्व के सभी प्रगतिशील देशों में नारियाँ आज पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर उत्पादन और समाज-कल्याण के कार्यों में लगी हुई हैं। इस कार्य के लिये श्री नेहरू का यह कथन एकदम ठीक है कि महिला-शिक्षा का प्रकार भी ऐसा रखना होगा, जिससे महिला

समाज-निर्माण में पूरी तरह सहायक सिद्ध हो सकें। इस संबंध में श्री नेहरू का यह सुझाव भी एक दम उपयुक्त है कि शिक्षा-प्रसार के लिये अधिक से अधिक यत्न किया जाना चाहिये। और इमारतों की भी चिंता नहीं की जानी चाहिये। उनका कहना है कि लक्ष्य पूरे समाज को अनिवार्य शिक्षा देने का होना चाहिये।

स्त्री-शिक्षा का तात्पर्य श्री नेहरू ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह वास्तव में माननीय है। उन्होंने अपने भाषण में कहा, "शिक्षा से मेरा मन्तव्य शिक्षा ही है, 'लेडी' बनना मात्र नहीं। लेडी-(शिष्ट महिला) जैसी शिक्षा ग्रहण करना अपने में अच्छा है, किन्तु उसे शिक्षा नहीं कहा जा सकता। शिक्षा के मुख्य रूप से दो पहलू होते हैं, सांस्कृतिक पहलू जिससे व्यक्तित्व का विकास होता है, और उत्पादनात्मक पहलू जिसमें आदमी कुछ रचनात्मक काम करता है। दोनों पहलू अनिवार्य हैं। हर व्यक्ति को उत्पादक और साथ में अच्छा नागरिक होना चाहिये, उसे किसी दूसरे व्यक्ति पर बोझ नहीं बनना चाहिये, चाहे दूसरा व्यक्ति पति हो या पत्नी। हम इसी तरह इस शिक्षा में बढ़ रहे हैं, और जो लोग इस तथ्य के प्रति जागरूक नहीं और अपने को इसके लिये तैयार नहीं करते, वे दौड़ में पिछड़ जायंगे। इस लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा का विकास करें, विशेष रूप से लड़कियों में, क्योंकि लड़कों की शिक्षा तो किसी सीमा तक हो ही जाती है। मुस्लिम लड़कियों की शिक्षा के संबंध में अभी तक सामाजिक अड़चनें हैं, ये अड़चनें हटनी चाहियें, क्योंकि इस संबंध में यदि किसी बड़े कारण का भी उल्लेख न किया जाय तो भी आम समझ का यही तकाजा है।"

श्री नेहरू ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट रूप से समझा दिया है। वह नहीं चाहते कि लड़कियाँ पढ़-लिख कर शिष्ट 'मेमसाहिबा' ही बन जायं, उनका कहना है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की हो कि वे घर में,

समाज में, राष्ट्रीय जीवन में, सांस्कृतिक और सृजनात्मक योगदान कर सकें। इस प्रसंग में स्व० अकबर इलाहाबादी का यह कथन याद आता है :

तालीम औरतों की है बिल ज़रूर आखिर।
खाने खातूना हों, सभा की परी न हों।

अकबर ने स्त्री-शिक्षा में घरेलू जीवन पर विशेष बल दिया है, वह 'लेडी-लाइक' शिक्षा का विरोध करते हैं। नेहरू का कहना है कि 'लेडी लाइक' *(मेम साहिबा) ही न बना जाय, पर समाजोपयोगी भी बना जाय।*

नेहरू की कुल मिलाकर स्त्री-शिक्षा के संबंध में धारणा यह है कि महिलाएं घरों में 'माँ' का काम भी अच्छी तरह करें और समाज-विकास एवं अर्थोत्पादन में भी सहयोग करें। इन सब रूपों मे महिलाओं का दायित्व बडा है। माँ के रूप में बच्चो का साधु-विकास करना उनके लिये बड़ा जरूरी है। एक श्लोक है :

माता वैरी पिता शत्रु : ये न बालो न पाठितः।
सभा मध्ये न शोभन्ते हंस मध्ये बको यथा।

इन पक्तियो मे बच्चों की शिक्षा का प्रबध न करने पर सबसे पहले माता को वैरी घोषित किया गया है, पिता की शत्रुता की घोषणा बाद मे की गई है। ठीक भी है कि बाल-पोषण का प्रथम दायित्व माँ का है। माँ गृहिणी भी है, इस लिये पति सेवा का भार भी उसी पर आता है। इस सबध में 'सभा की परी' अथवा 'लेडीलाइक' जैसी गृहिणी पर स्व० *अकबर की एक फब्ती है कि घर में आने पर उसने कालिज के ही चर्चे* छेड़े, यह न बतलाया कि रात की रोटियाँ कहाँ रखी हैं? मतलब यह कि महिला को एक अच्छी गृह-मालकिन भी होना चाहिये। और आज के *युग का तराजा है कि वह सुगृहिणी और माँ के अलावा अर्थोपार्जन* और समाजो कृति मे भी हाथ बटाये। इस तरह महिलाओं के विशिष्ट दायित्व हो जाते है और इन दायित्वों के प्रकाश मे ही उनकी शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिये।

बुनियादी शिक्षा

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते ।
कान्तेव चापि रमयत्यनीय खेदं ।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्त्ति,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

विद्या माता की तरह रक्षक होती है, पिता की तरह कल्याण में लगाती है, स्त्री की तरह क्लेश दूर करती है, धन की वृद्धि कराती है, चारों तरफ़ यश फैलाती है। कल्पलता रूपी विद्या क्या-क्या नहीं साधती ?

श्री नेहरू शिक्षा के उस रूप को पहले सार्थक मानते हैं, जो राष्ट्रीय लक्ष्यों और उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो। शिक्षा जगत् में राष्ट्र के लिये वही कल्पलता है।

"स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय लक्ष्यों और सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति और विशेषकर विकास-योजनाओं की शीघ्र क्रियान्विति के लिये सही प्रकार के व्यक्तियों के प्रशिक्षणार्थ वर्तमान शिक्षा पद्धति में सुदूरवर्ती परिवर्तनो की नितान्त आवश्यकता है।"

—जवाहरलाल नेहरू

यह उस प्रस्ताव का प्रारंभिक वाक्य है, जो २३ जनवरी, १९५५ को *भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आवडी अधिवेशन में श्री जवाहरलाल नेहरू ने* प्रस्तुत किया था। इस एक वाक्य में हमारे राष्ट्रीय नेता ने वर्तमान शिक्षा-पद्धति के मोटे दोषों और उन्हें दूर करने के लिये नये परिवर्तनों की आवश्यकता को दर्शा दिया है। साथ ही शिक्षा के नये प्रकार की रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी है।

कोई भी व्यक्ति जब शिक्षा प्राप्त करता है तो उसके सामने अनेक बार रह-रह कर यह प्रश्न आता है कि आखिर वह किस उद्देश्य के लिये पढ़ रहा है? यह सवाल तब और प्रखर हो उठता है, जब वह देखता है कि उस जैसे या उससे भी अधिक मेधावी तथा पढ़े लिखे व्यक्ति हजारों की ही संख्या मे नहीं, बल्कि लाखों की संख्या में बेरोजगार घूम रहे हैं। उनका कोई पुरसांहाल नही। वर्षों परिश्रम करने और हजारों रुपया खर्च करने के बाद भी वे समाज पर बोझ की तरह लदे हुए हैं। न वे खुद बोझ बन कर खुश हैं और समाज तो खुश हो ही कैसे सकता है!! और उन मां

बापों के बारे में तो कहा ही क्या जाय, जो अपना पेट काटकर जैसे-तैसे अपने नौनिहालों को इस आशा में पढ़ाते हैं कि किसी दिन वे भी अपने बेटों की कमाई का कुछ आनंद ले सकेंगे, पर बेटों की कमाई का सुख उठाने की बात तो दूर रही, बेटों को खुद दो-दो रोटियों का मोहताज देख कर उनकी आँखों का पानी नहीं सूखता।

पढ़े-लिखे नौजवानों की मुसीबत दोहरी-तिहरी है, एक तो डिग्रियों का भार, दूसरे तनमन की आवश्यकताओं का भार और तीसरे समाज के दायित्वों का भार और यदि उन्हें राष्ट्रीय कर्तव्य और दायित्व भी सुझा दिये जायें तो वे चुल्लू भर पानी में डूब मरने की सोचते हैं! माँ-बापों की हजारों रुपयों की 'डिग्रियाँ' (व्यय) कराकर जो उन्होंने डिग्रियाँ प्राप्त की, वे न ओढ़ने की और न बिछाने की।

शारीरिक श्रम वे कर नहीं सकते, क्योंकि उसका न तो उन्हें कभी अभ्यास कराया गया और दूसरे समाज की यह धारणा है कि पढ़-लिख कर भी उन्हें यदि शारीरिक श्रम करना पड़ा, मेहनत-मजूरी करनी पड़ी तो पढ़ने का ही क्या फ़ायदा हुआ? पढ़ने-लिखने का तो मंशा यही था कि उन्हें बाबूगिरी या साहबी मिलती। ऐसी स्थिति में लगभग सभी शिक्षार्थी यह सोचते हैं कि हम अन्ततोगत्वा करेंगे क्या? हमारे पढ़ने-लिखने का तात्पर्य क्या है? किन्तु उनका यह सोचना अधिक मायने नहीं रखता, क्योंकि उन्हें तो वही पढ़ना है, जो उनके पाठ्य-क्रम में है। इसलिये तेली के बैल की तरह वे भी एक दायरे में ही घूमते रहते हैं और कहते रहते हैं—होइ है सोइ जो राम रच राखा। परिस्थितिवश भाग्यवादी बनजाते हैं। जिनका 'भाग्य' ज़ोर मार जाता है, वे कहीं नौकरी पा जाते हैं; जो 'भाग्य' के हेटे होते हैं, वे बेकारी के आलम में डोलते फिरते हैं! देश के आज़ाद होने पर हजारों नौजवानों ने तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा की डिग्रियां लीं, उन क्षेत्रों में रोजगार का बाज़ार कुछ दिन गर्म रहा, अब वहां भी ताज़िये ठंडे हो गये। इसलिये वहाँ भी अधिकांश निराशा-

जनक वातावरण के दर्शन होते हैं; और यह बात तब और भी खलती है, जब कि ये डिग्रियां और भी अधिक व्यर्थ और कष्ट साध्य होती हैं। गरीब और कम मेधावी छात्र इधर नहीं के बराबर जा पाते हैं! एक तो समाज का ढांचा विकृत और दूसरे शिक्षा-प्रणाली दूषित, नौजवानों में रचनात्मक और सृजनात्मक प्रतिभा और भावना पैदा हो तो कैसे हो? कुछ लोहा खोटा और कुछ लोहार, इसलिये चीज बने तो कैसे बने?

अंग्रेजी शासन काल में तो अंग्रेजों की आलोचना करने से छुट्टी हो जाती थी। वे तो परदेशी थे, उन्होंने शिक्षा-प्रणाली अपनी जरूरतों को देखकर लागू की थी। उन्हें राष्ट्रीय आकांक्षाओं से क्या सरोकार था? उनका मन्तव्य तो यह था कि प्रशासन में सहायता करने के लिये निम्न-ग्रेडों के व्यक्ति मिल जायें। इस भावना से उन्होंने यहाँ अपने ढंग की शिक्षा प्रारंभ की। आजादी के आंदोलन के दौरान में राष्ट्रीय नेताओं ने इस चीज को देखा और इस शिक्षा-पद्धति की आलोचना की। गांधी जी ने कुछ शिक्षा-विशेषज्ञों की सम्मति से 'बुनियादी तालीम' नाम से शिक्षा का एक नया प्रकार निकाला, जिसका मुद्दा बचपन से ही शिक्षार्थियों में नैतिकता और शारीरिक श्रम के महत्त्व की भावना को भरना था। उन्होंने अपने काल में इसे थोड़ा-बहुत अमली जामा भी पहिनाया।

बुनियादी शिक्षा के ये दो तत्व विशेष ध्यान देने योग्य हैं। बाल्य-काल से ही चरित्र-निर्माण पर दृष्टि रखना बड़ा ही उपयुक्त है। अंग्रेजी की एक बहुप्रचलित कहावत है कि यदि धन खोया जाय, तो कुछ भी हानि नहीं, यदि स्वास्थ्य नष्ट हो जाय, तो जरूर कुछ हानि है, और यदि चरित्र नष्ट हो जाय तो समझो कि सब कुछ चला गया। वास्तवमें चरित्र का महत्त्व ही ऐसा है। चरित्र व्यष्टि से लेकर समष्टि तक धुरि की तरह है। इसे मानव की संचालिका शक्ति कह सकते हैं। इसी प्रकार दूसरा तत्त्व शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा का है। लम्बी दासता शारीरिक मेह-नत की महत्ता भारतीयों के मन से उड़ा ही दी थी। इसका परिणाम

यह हुआ कि हम बिल्कुल जड़ हो गये हम में नैतिकता और शारीरिक श्रम की भावना का ह्रास होने से जीवन के प्रति पराङ्मुखता के भाव पैदा हो गये। राष्ट्रीय नेताओं ने, और विशेषकर गांधी ने, इन दो भावों को बढ़ावा दिया। मार्क्सवादी विचारधारा ने भी मनोबल और स्वावलम्बन की भावना को प्रोत्साहन दिया। इस दिशा में जाग्रत होने पर जब गांधी जी ने बुनियादी तालीम की योजना की रूप रेखा को देश के सामने रखा तो इसका स्वागत होना ही था।

आज जबकि हमारे राष्ट्रीय लक्ष्य और सामाजिक उद्देश्य साफ हो चुके हैं और उनकी प्राप्ति के लिये बहुत सी विशाल योजनायें बन चुकी हैं और बहुत सी बन रही हैं, तब यह आवश्यक है कि इन योजनाओं को अमली रूप देने के लिये उपयुक्त व्यक्ति अधिक से अधिक संख्या में चाहियें। और उपयुक्त व्यक्ति वे ही हो सकते हैं, जो चारित्रिक गरिमा और शारीरिक श्रम की निष्ठा से मंडित हों। किन्तु ये दोनों चीजें आयें कहां से? इसके लिए कांग्रेस के आवडी अधिवेशन में बुनियादी शिक्षा को दस वर्षों में सब राज्यों में चालू कर दिये जाने पर श्री नेहरू ने पूरा बल दिया। इस महत्वपूर्ण प्रस्ताव का पूरा मसविदा इस तरह है :

"स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय लक्ष्यों और सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति और विशेषकर विशाल योजनाओं की शीघ्र क्रियान्विति के लिए सही प्रकार के व्यक्तियों के प्रशिक्षणार्थ वर्तमान शिक्षा पद्धति में परिवर्तनों की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा मन्त्रालय की माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन की योजना का विशेषकर देश में छात्रों को जीवन में काम धंधों की समुचित और बुनियादी शिक्षा देने तथा उच्चतर शैक्षणिक पाठ्यक्रमों के लिए बहूद्देशीय स्कूलों की स्थापना के निर्णय का कांग्रेस स्वागत करती है।

"योजना कमीशन और भारत सरकार ने भारत में प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा के भावी ढांचे के तौर पर बुनियादी शिक्षा

को लागू करने की नीति को पहले से ही स्वीकार कर लिया है क्योंकि बुनियादी शिक्षा में उत्पादनात्मक माध्यमों का प्रयोग होता है और शास्त्रीय विषयों को विभिन्न जातियों और सामाजिक वातावरण से जोडा जाता है, इसलिए भारत की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के लिए स्पष्टतया समुचित है। दस वर्ष की अवधि में व्यवस्थित और सुनियोजित ढंग से ग्राम्य और शहरी क्षेत्रों मे बुनियादी शिक्षा के पूरी तरह से लागू करने के लिए कॉंग्रेस सभी राज्य सरकारो का इस नीति को यथाशीघ्र अग्रसर करने के लिए आह्वान करती है।"

इस प्रस्ताव के स्वीकार किये जाने के समय से लेकर अब तक बुनियादी शिक्षा की प्रगति होरही है, किन्तु इसका प्रचलन मुख्यतया अभी ग्राम्य क्षेत्रों में है और शहरी क्षेत्रो मे अभी अग्रेजीकालीन शिक्षा-पद्धति ही चालू है। इससे ग्राम्य क्षेत्रो मे भी बुनियादी शिक्षा का विरोध होने लगा है, क्योंकि वहाँ के लोगो के दिमाग पर यह असर पडता है कि यदि बुनियादी शिक्षा पद्धति अच्छी होती तो शहरी क्षेत्रों में भी इसका प्रचलन हो जाता। यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्वाभाविक है। इस लिये शहरी क्षेत्रो मे भी इसे जल्दी जल्दी लागू करना बड़ा आवश्यक है। इससे एक बात यह भी हो जायगी कि बुनियादी शिक्षा के साधनों का भी ठीक तरह से विस्तार हो जायगा। इसी लिये श्री नेहरू ने ग्राम्य क्षेत्रो के साथ-साथ शहरी क्षेत्रो में भी व्यवस्थित और सुनियोजित ढग से इसे लागू करने पर बल दिया है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। देश के कई शिक्षाशास्त्री अग्रेजी शासन कालीन शिक्षापद्धति की श्रेष्ठता की बात करते हैं, किंतु भारत की प्रगति के लिये नई शिक्षापद्धति ही उचित है। हमारी योजनाओं की पूर्ति के लिये नये वातावरण का दिमाग होना बड़ा जरूरी है। और यह दिमाग बुनियादी शिक्षा और बहूद्देश्यीय स्कूलों मे ही बन

सकता है। आज शिक्षा अर्थकरी भी होनी चाहिये। पूर्वी देशों में छोटा होने पर भी जापान ने अपनी शिक्षा-पद्धति के कारण ही औद्योगिक राष्ट्रों में अपना एक स्थान बना लिया है।

श्री नेहरू शिक्षा के यशोकरी रूप को भी महत्व देते हैं। उनका कहना है शिक्षा मानस को भी संस्कृत करे, बुद्धि का भी शोध करे और समाज में यश भी दे, पर यह केवल पढ़ने-लिखने से ही संभव नहीं होगा, इसके लिए स्वस्थ शरीर का भी निर्माण आवश्यक है। स्वास्थ्य-विकास व्यायाम और शारीरिक श्रम के द्वारा हो सकता है। ऊँचे वर्गों के लोग शारीरिक श्रम को हीन दृष्टि से देखते हैं। नेहरू इस पहलू को ठीक नहीं मानते। उनका कहना है कि "शारीरिक श्रम शरीर-विकास की दृष्टि से भी अनिवार्य है।" इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने तर्ज और लहजे में यह भी कहा है, "मेरी तन्दुरुस्ती अच्छी है और मैं अपनी उम्र के किसी भी आदमी से, जिस्मानी या किसी भी जिस्म के बहुत से मुकाबलों में भिड़ने को तैयार हूं। अगर वे सौ गज की दौड़ दौड़ना चाहें तो मैं उनके साथ दौड़ूंगा, वे तैरना चाहें तो मैं उनके साथ तैरूंगा, यदि वे घुड़सवारी करना चाहें तो मैं उनके साथ घुड़-दौड़ करूंगा। मैं दस-बीस या तीस साल पहले जितना ज्यादा चुस्त था, इस वक्त चाहे मैं इतना न होऊं, फिर भी मैं आप से यकीन के साथ कहता हूँ, मैंने अपने जिस्म को हमेशा अहमियत दी है। यह हर आदमी का फ़र्ज है कि वह तन्दुरस्त और मजबूत रहे। मुझे बीमारी या कमजोरी से हमेशा नफ़रत रही है। मैं किसी की बीमारी से हमदर्दी नहीं रखता। मैं यह इसलिये कह रहा हूँ कि बहुत-से लोग यह खयाल करते हैं कि बीमार और कमजोर होना अमीरी की निशानी है। मैं चाहता हूँ कि नौजवान और बूढ़े सब तन्दुरस्त, मजबूत और चुस्त रहें, मैं सबको जिस्मानी तौर पर अव्वल दर्जे का राष्ट्रीय देखना पसन्द करता हूँ। मेरा खयाल

है कि जब तक सब की जिस्मानी सेहत ठीक न हो, तब तक हम असली तौर पर दिमागी तरक्की नहीं कर सकते।"

बुनियादी शिक्षा में किसी न किसी किस्म के उत्पादन पर बल है। इसकी ओर लक्ष्य करते हुए श्री नेहरू ने कहा, "महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज के लिये उपयोगी किसी न किसी वस्तु का उत्पादन करना चाहिये। आप में से हरकोई समाज के उत्पादन को अन्न-वस्त्र, आदि के माध्यम से उपभोग करता है। जब तक कि आप जितना उपभोग करते हैं यदि उतना उत्पादन नहीं करते तो आप समाज के लिये भार हैं, आप उन चीजों का उपभोग करते हैं जोकि दूसरों ने पैदा की हैं। एक फ्रांसीसी ने कहा है कि यदि आप दूसरों की दौलत चुराते हैं तो आप चोर हैं। आप धनियों के बारे में बात करते हुए कहते हैं कि वे लोग दूसरे लोगों की दौलत पर जिंदा रहते हैं, यह बात ठीक हो सकती है पर संभवतः धनी व्यक्ति भी अपनी संगठन शक्ति का दान करके समाज में महत्वपूर्ण काम करता है। किन्तु यह भी तो चोरी है कि एक व्यक्ति न तो धनिक है और न कुछ पैदा करता है, बल्कि दूसरों के उत्पादन पर जिंदा रहता है। हम ऐसा समाज चाहते हैं जिस में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी तरह उत्पादक हो हर व्यक्ति उपभोक्ता है, इसलिये उसे उत्पादक भी होना चाहिये और यदि उसे उत्पादक होना है, तो उसे उत्पादन के काम को सीख कर अपने कार्य में कुशल होना चाहिये। यदि हमारा यह ध्येय हो चुका है तो हमारा इस प्रकार का प्रशिक्षण भी होना चाहिये। यह प्रशिक्षण वैचारिक, बौद्धिक और शारीरिक भी हो। मैं समझता हूँ कि बुनियादी शिक्षा का मंतव्य है कि भारतवर्ष का हर बच्चा सात साल तक, याने कि सात वर्ष की आयु से चौदह वर्ष की आयु तक, बुनियादी शिक्षा के अन्तर्गत प्रशिक्षण लेकर किसी धंधे या व्यापार की

समुचित पृष्ठभूमि तैयार करले। बाद को वह लड़का या लड़की उच्चतर शिक्षा ले सकती है।"

श्री नेहरू के इन शब्दों में बुनियादी शिक्षा का भाव स्पष्ट रूप से अंकित है।

अवसर पकड़ लें

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वान्सः ।
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥
अप्रकटीकृत शक्तिः शक्तोऽपिजनस्तिरष्क्रियां लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्नतुज्वलितः ॥

जिस माता ने ऐसे पुरुष को अपने गर्भ में धारण किया है, जो कि बड़े से बड़े लोगों का गुरु होकर जन्मा है, जो अपने पराक्रम एवं शक्ति तथा सामर्थ्य को संसार में प्रकट नहीं करता है, ऐसे शक्तिसम्पन्न व्यक्ति का भी लोग तिरस्कार करने लगते हैं, जैसे काठ के अन्दर रहने वाले अप्रज्वलित अग्नि का लङ्घन सभी करते हैं, परन्तु प्रज्वलित अग्नि को लांघने का साहस तो कोई भी नहीं करता ।

श्री नेहरू प्रज्वलित अग्नि की प्रति रूप युवा शक्ति का आह्वान करते हैं ! नौजवान उठें और जलती हुई आग जैसे जाज्वल्यमान कामों से देश की कीर्ति और शक्ति को दिग्दिगंत में व्याप्त कर दें ।

"महत्व वचन का नहीं, कर्म का होता है। इसलिए उन लम्बे चौड़े अवसरों का ध्यान रखो, जो संसार में उन लोगों को ही मिलते हैं जो चुस्त दिमाग, दृढ़ चरित्र और पुरता कदम वाले होते हैं।"

—जवाहरलाल नेहरू

नई दिल्ली में २३ अक्तूबर १९५५ को दूसरे युवक समारोह में भाषण करते हुए श्री नेहरू ने युवकों को विचार और कर्म को एकाकार करने और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सन्नद्ध हो जाने के लिये कहा। उन्होंने एक पते की बात यह भी कही कि हमें अपनी अच्छाइयों को निरन्तर बढ़ाते रहने और बुराइयों को निरन्तर कम करते रहना चाहिये; क्योंकि कमज़ोरियाँ और बुराइयाँ इन्सान को हमेशा असफलताओं की ओर ले जाती हैं।

श्री नेहरू ने अनेक अवसरों पर इस बात पर बल दिया है कि नई पीढ़ी को विचारों और कर्मों में सादृश्य रखना चाहिये। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस अवसर विशेष पर अपना उदाहरण देते हुए कहा कि मैंने 'हिन्दुस्तान की कहानी' (डिस्कवरी आफ इंडिया) अपनी गतिविधियों और विचारों में सामंजस्य लाने के लिए लिखी क्योंकि कर्मविरहित विचार गर्भपात जैसा होता है और विचारविरहित कर्म मूर्खता जैसा उन्होंने विस्तार से बतलाया कि उन्होंने पुस्तकें अपने कामों को विचार-

पुष्ट करने की दृष्टि से लिखी हैं। इसलिये उन्होंने नवयुवकों से इस चीज पर सब से अधिक ध्यान देने के लिये कहा। विचारों और कर्मों में एक-सूत्रता न होने पर अन्तर्द्वन्द्व जन्म लेते हैं, जो मानसिक शांति नहीं रहने देते हैं, और बिना मानसिक शांति के व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता है। मानसिक शांति न धन से प्राप्त होती है और न पद से। उसका सम्बन्ध व्यक्तित्व के पूर्ण सगठन और अखण्ड रखने से है। यह उपलब्धि तब होती है, जब व्यक्ति अच्छे ढग से सोचता है, और उन अच्छे तरह से सोचे हुए सद्‌विचारों के अनुसार काम करता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को बड़ी साधना की आवश्यकता है। अपने व्यक्तित्व का निर्माण उसी तरह से श्रमसाध्य है, जिस तरह समाज-निर्माण का कार्य; बल्कि कहना चाहिये कि व्यक्ति समाज से कटकर बड़ा और पूर्ण नहीं बन सकता। विचार, विचाराभिव्यक्ति, लेखन और कार्य जब नदी की धारा की भाँति समुद्रमुखी हो जाते हैं, तभी वे वंदनीय होते हैं। स्वान्तः सुख जब लोकसुख का पर्याय हो जाता है, उस समय ही व्यक्तित्व मुखर होता है। ऐसी स्थिति में यदि कुछ लिखा जाता है तो उसका चिरंतन मूल्य हो जाता है जैसे तुलसी के रामचरितमानस का, और यदि काम किया जाता है तो वह भी स्थायी महत्त्व का हो जाता है, जैसे गांधी का काम या विनोबा का काम, इस काम को हम 'जन-काज' कहें या 'राम काज।' श्री नेहरू युवकों का ध्यान इसी ओर आकृष्ट करते हैं और इस प्रवृत्ति के विकास को अखंड व्यक्तित्व के विकास की संज्ञा देते हैं।

जब नेहरू व्यक्ति और समाज के विकास की बात करते हैं, तो उनका दृष्टिकोण अध्यात्मवादी जैसा प्रतिभासित होने लगता है। विदेशी छात्रों के सामने जो उनके भाषण हुए हैं उनमें तो एकदम भारत की आत्मा बोलती प्रतीत होती है। 'नेशनल हेरल्ड' के संपादक श्री के० रामाराव ने अपने संस्मरणों में एक स्थान पर लिखा है कि एक बार एक अंग्रेज सम्पादक ने प्रश्न किया, "आप कहते हैं कि जवाहरलाल नेहरू धर्मनिर-

पेक्षवादी और नास्तिक हैं, किन्तु आप उनकी पुस्तकें पढ़िये तो आपको कितनी ही बार यह महसूस होता है कि वह ईश्वर और धर्म मे विश्वास करते हैं।" इस अंग्रेज सम्पादक की यह धारणा ठीक है। नेहरू वैज्ञानिक हैं, विज्ञानवादी दृष्टिकोण से सोचते हैं, और उनका विज्ञान सृजन और रचनाओं की भावनाओं की ओर उन्मुख होता है; बल्कि जैसा कि उन्होंने एक से अधिक बार कहा है कि मनुष्य को अध्यात्मवाद को वैज्ञानिकता से आज के युग मे जोड़ लेना चाहिये, वह अपनी दृष्टि से मानवीयता और मानव धर्म के मूलमंत्रों को कभी ओझल नहीं कर पाते। उनकी धर्मनिरपेक्षता और अनास्था का अर्थ सब धर्मों की मूलप्रवृत्तियो के प्रति सद्भावनाशील होना और अनास्था का अर्थ जड़ता से दूर होना है। श्री नेहरू का चरित्र पर सदा बल रहा है, और वह चाहते हैं कि विद्यालयों मे नैतिकता की शिक्षा दी जानी चाहिये। विद्यार्थी और युवा वर्ग को नेहरू की बातों के मर्म को समझ लेने के लिये उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष को जान लेना बड़ा अनिवार्य है।

श्री नेहरू ने अपने इस भाषण में एक अन्य महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत किया है, और वह यह कि बहुत से व्यक्ति अपनी, अपने समाज की, तथा देश का किसी बड़ी हीनता छुपाने के लिए किसी एक अच्छी विशेष प्रवृत्ति का ढिंढोरा पीटकर आत्म-प्रतिष्ठा चाहते हैं। भारत में ऐसे लोग अपने देश की राजनैतिक आर्थिक तथा वैज्ञानिक गतिहीनता को छुपाने के लिए उसका आध्यात्मिक गरिमा का बखान करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि झूठी आत्म-गरिमा के चक्कर में दोष ज्यों के त्यों रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे लोग दूसरो के महत्वपूर्ण पहलुओं को न देखकर उनकी हीनताओं को देखते हैं। और इस से झूठा आत्म-तोष ग्रहण करते हैं। यह प्रवृत्ति वस्तुतः बुरी है।

श्री नेहरू ने इस कुप्रवृत्ति से बचने के लिए गांधी जी का सम्यक् दृष्टिकोण अपनाने के लिए सुझाव दिया है।

गांधी जी का यह स्वभाव बन गया था कि वह दूसरों के गुणों पर

ध्यान देते थे और अपने दोषों पर। यही सीख वे अपने सहकर्मियों, देशवासियों और विश्व-जनता को देते थे। इसका परिणाम हमेशा अच्छा होता था। अवगुणी व्यक्ति अपने गुणों के विकास के लिये तत्पर हो जाता था। गांधी जी की संगति और मनक द्वार उनके मृदुल व्यवहार से बड़े से बड़े अपराधी साधुत्व की ओर चल पड़ते थे। दूसरों में दोष ही देखते रहना बड़ा गलत है। इससे जहाँ दूसरा उन्नति के प्रति रुचि-शील नहीं होता; वहाँ अपने मन में वैमनस्य की जड़ें जमा लेता है, जिससे कि मधुर सम्बन्ध कभी नहीं बन पाते। यह बात व्यक्ति समाज और देशों—सभी पर लागू होती है।

श्री नेहरू ने अपने जीवन में दूसरों के गुणों को देखकर, जानकर उन्हें अपनाने पर बल दिया है, और अपने दोषों के प्रति वह छिद्रान्वेषी रहे हैं। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का विकास इसी प्रक्रिया से किया है। इस कार्य में चिन्तन मनन और लेखन उनके सहायक रहे हैं इसीलिये वे इन चीजों की आवश्यकता पर बार-बार बल देते हैं।

उन्होंने अपने इस भाषण में युवकों से कहा, "आप लोगों से मैं सबसे पहले यह चाहूँगा कि आप सोचा करें, चिंतन किया करें। सोचने की प्रक्रिया मनुष्य को स्वतः सिद्ध नहीं होती। अपने पड़ोसी के साथ गपशप करना सोचना-विचारना नहीं है। यदि दूसरे के कहे हुए को आप दोहरायें, तो वह भी चिंतन नहीं। मैं आप सब लोगों से तो यह आशा नहीं करता कि आप बड़े विचारक बन जाएंगे, हाँ, आप में से कुछ अवश्य महान् चिंतक और विचारक बन सकते हैं। किंतु मैं यह चाहूँगा कि आप सब सोचा करें, विचार करें, चिन्तन किया करें और इस विचार-कला का विकास करें। चिंतन में अध्ययन बड़ा सहायक होता है, और वह भी बुद्धिमत्तापूर्ण अध्ययन, क्योंकि उससे आपको दूसरों के विचार मिलते हैं और उन्हें तोलकर आप स्वयं विचार करना जान जायंगे। मैंने यह बात अक्सर कही

है कि आजकल लोग बहुत कम पढ़ते हैं और सोचते हैं, विशेषकर भारत में ऐसा ही है। अखबार पढ़ना अध्ययन की कोटि में नहीं आता। उपयोगी अध्ययन वह है, जिससे आप चिन्तन करने लगें, चाहे आप किसी अच्छे उपन्यास का ही अध्ययन करें। महान् उपन्यास हमेशा चितन को बढ़ावा देते हैं, क्योंकि वे बड़े दिमाग़ वाले लोगों द्वारा चित्रित जीवन की छवियाँ होती हैं।

"यदि आप पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में सोचें, तो आप पायेंगे कि उनमें इंजीनियर कितना महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। हमारी योजनाओं के लिये हमें लाखों इंजीनियर लाखों ओवर सियर, मेकैनिक और टेक्नीशियनों की जरूरत पड़ेगी। सम्पूर्ण संसार ज्यादा से ज्यादा प्रशिक्षित लोगों की दुनिया बनता जा रहा है। उन्हें दो तरह से प्रशिक्षित होने की जरूरत है। उन्हें मानसिक रूप से भी प्रशिक्षित होना चाहिये, और विश्व-झाँकी की समझ होनी चाहिये। इसके बाद उनका प्रशिक्षण, कार्य विशेष में होना चाहिये, जिसे वे अच्छी तरह से कर सकें, चाहे वह कार्य विज्ञान का हो, चाहे इंजीनियरिंग अथवा औषध-शास्त्र अथवा शिक्षा का हो। इसी तरह का कुशलता से भारत का निर्माण होगा।

"स्पष्ट कहूँ, राजनीतिज्ञ के कार्य से भारत का निर्माण नहीं होगा, यद्यपि मैं एक राजनीतिज्ञ की हैसियत में ही बोल रहा हूँ। राजनीतिज्ञ अपने तौर पर ही उपयोगी व्यक्ति है, यद्यपि इस बात का सही अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तम समाज में राजनीतिज्ञ की वह क़द्र नहीं रहेगी, लेकिन कार्य विशेषों के विशेषज्ञ हमेशा जमे रहेंगे। इन्जीनियर और वैज्ञानिक की सदा आवश्यकता रहेगी। चाहे राजनीतिज्ञ की क़द्र घट जाये लेकिन इंजीनियर और वैज्ञानिक की क़द्र नहीं घटेगी।

"आप नौजवान हैं। मैं चाहूँगा कि आप में नौजवानी का

गर्व और महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिये जिससे आप बढ़िया और बड़ा काम कर सकें। आप में से सब चाहे प्रतिभा सम्पन्न न हों, फिर भी आप में से कुछ जीवन के किसी न किसी क्षेत्र में उम्दा काम कर सकते हैं। मुझे वे लोग अच्छे नहीं लगते, जिनमें न कोई महत्त्वाकांक्षा है, और जो बस यों ही जिन्दगी के दिन पूरे करते हैं।

"गर्व और महत्त्वाकांक्षा शब्द व्यक्तिगत शुद्ध अर्थों में मैं प्रयोग नहीं कर रहा हूं। मैं धन के गर्व की बात नहीं करता, वह तो सब प्रकार के गर्वों में सब से अधिक मूर्खतापूर्ण है। अपने कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करने का गर्व व्यक्ति में होना चाहिये। यदि आप वैज्ञानिक हैं, तो आप आइंसटीन बनने की सोचो, अपने विश्व-विद्यालय के रीडर बनने की बात मत सोचो। यदि आप डाक्टरी पेशे के व्यक्ति हैं तो ऐसी ईजाद करने का विचार करो जिससे कि मानव-जाति का कल्याण हो। यदि आप इंजीनियर हैं तो किसी नये आविष्कार का लक्ष्य रखो। किसी बड़ी वस्तु को लक्ष्य बनाना ही आप में महानता का संचार करेगा।

"यदि मेरे साथी, मैं और दूसरे, जो आज सार्वजनिक जीवन में हैं, आपको बड़े नेता लगते हैं, तो देखो कि वे ऐसे बड़े कैसे बने? हम में कोई गुण और योग्यता हो सकती है, किन्तु हम बड़े अपने कार्य और महत्त्वाकांक्षा के कारण बने, क्योंकि हमने बड़ी-बड़ी चीजें करने की कोशिश की और ऐसा करने में हमारा कदम बढ़ा।

"आप जो कहते हैं, उसके इतने मायने नहीं, जितना कि आप जो करते हैं, उसके मायने हैं। इसलिये उन बड़े अवसरों का ध्यान रखो जोकि संसार में तीव्रमति दृढ़ चरित्र और गतिशील लोगों को मिलते हैं। उन अवसरों का ध्यान करो जो भारत में आपके सामने हैं। देश की कठिनाइयों को मैं आप से अधिक जानता हूं, अनन्त लोगों की पीड़ा और दुख को जानता हूं। हम इन समस्याओं का मुकाबला करके इन्हें हल करने की कोशिश कर रहे

हैं, यह काम हम जादू से नहीं बल्कि दृढ़ इच्छा और कठोर श्रम से कर रहे हैं। किसी-किसी अवसर पर प्रभाव डालने वाले मानवीय व्यक्तित्व तथा मानवीय मस्तिष्क के जादू के अलावा संसार में कोई जादू नहीं है। बड़े काम करने में समय और धैर्य की आवश्यकता होती है। निर्बल मन बनाने से काम नहीं चलता। आदमी को असफलताएँ मिलती हैं, लेकिन उसे आगे बढ़ने की कोशिश करनी ही पड़ती है। सफलता अचानक या बिना क्षति उठाये नहीं आती। भारत में आपकी उन्नति के लिये बड़े अवसर हैं। उनके लिये अपने को तैयार करो। बड़े काम करने की अतस् प्रेरणा रखो और निस्संदेह आप बड़े काम कर जाओगे।"

इन प्रेरणापूर्ण पंक्तियों में श्री नेहरू ने युवकों को अपने व्यक्तित्व, समाज और राष्ट्र तथा अंततोगत्वा मानव जीवन के विकसित करने का मूल मन्त्र दिया है। विकास के अवसर जहां तहां छितरे पड़े हैं, पर चाहियें वे व्यक्ति, जो इन अवसरों को पकड़ने की न केवल हिम्मत धैर्य या महत्त्वाकांक्षा रखें बल्कि संघर्षशील भावना भी रखें। जीवन सुख का सेज नहीं है, बल्कि काँटों की शैया है। यहाँ दुख अधिक, सुख कम हैं। इसे भोगने के लिये वीर बनने की आवश्यकता है: वीर भोग्या वसुन्धरा। यह वीरता मन, वचन और कर्म सब में होनी चाहिये।

धधकती हुई आग का नाम जवानी है। इस आग में इतनी तपिश होती है कि उसके कारण आँखें नहीं खुल पातीं। इसलिये नवयुवा जीवन तनिक सी भी असावधानी के कारण कष्टपूर्ण हो जाता है। कुशल वह माना जाता है, जो इस आग के द्वारा मानवीय जीवन की यौवना को समाप्त प्रायः करके उसे प्रखर कर देता है। यह कुशलता गुरु की कृपा और आत्म साधना से प्राप्त होती है।

पुराना और नया

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
नचापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढ़ः परः प्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

पुराना होने से ही सब कुछ अच्छा नहीं होता, और नया होने से ही सब कुछ बुरा नहीं होता। विवेकी पुरुष वस्तु को जांच कर स्वीकार किया करते हैं, किन्तु मूर्ख दूसरों के विश्वास पर ही निर्णय कर लेता है।

नेहरू इसी विवेक-बुद्धि को जाग्रत करना चाहते हैं, और वास्तव में वह स्वयं इस विवेक के साधना में रत रहते हैं। पश्चिम और पूर्व का यह समन्वित व्यक्तित्व पुराने और नये का जोड़ है। यही इसका अत्यन्त महत्व है।

"..........हम दो चीजों को याद रखें : प्राचीन संस्कृति और नवीन विज्ञान। प्राचीन हरेक चीज अच्छी नहीं, नई चीज भी हरेक अच्छी नहीं। कोई चीज जमी नहीं रहती, गंगा की तरह चलती जाती है।"

—जवाहरलाल नेहरू

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में विज्ञान भवन के उद्घाटन के अवसर पर १ अगस्त १९५८ को श्री नेहरू ने वही बात कही, जो क्रांतदृष्टा राष्ट्रीय महाकवि कालिदास ने कही थी। बहुत से लोग हर प्राचीन वस्तु में पवित्र भाव रखते हुए अच्छा मानते हैं। ऐसे लोग प्राचीनतावादी होते हैं और अपने वर्तमान में सदा 'अनफिट' रहते हैं, अनुपयुक्त रहते हैं। वे जमाने की दौड़ में पीछे रह जाते हैं। और बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं, जो हर आधुनिक वस्तु को, हर नई चीज़ को ग्राह्य मानते हैं। उन्हें नित नयी चीज़ चाहिये, और नयेपन की भूख में उन्हें हर पुरानी चीज़ असुन्दर प्रतीत होती है। ऐसे लोग अति आधुनिकवादी होते हैं। वे अपने सुन्दर विगत से कटफट कर मूलहीन वृक्ष की तरह विनष्ट हो जाते हैं। इष्ट स्थिति है अच्छे पुराने और अच्छे नये के समन्वय की, दोनों के योग की। हमें अच्छे पुराने के साथ साथ अच्छे नये को ग्रहण कर लेना चाहिये और दोनों के ताने-बाने से

'चादर' बुननी चाहिये। सम्भवतः कबीर ने इसे ही "इंगला पिंगला का ताना भरनी" कहा है, श्रद्धा और इड़ा के योग से ही नव-निर्माण की 'नव-चादर' तैयार होती है, और ऐसी चादर कभी पुरानी नहीं होती।

वस्तुतः जीवन्त समाज चलता ही है इसी प्रवृत्ति पर। यही वास्तविक प्रगतिशील दृष्टिकोण है। पुरातन की जड़ता को छोड़ कर, उसकी गतिशील सद्वृत्ति को नये सिद्ध वैज्ञानिक तत्त्वों से अनुप्राणित कर ही व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व में आगे बढ़ता है। व्यष्टि और समष्टि दोनों की गति का यही मूलमन्त्र है। बहुत से लोग गलती से हर परिवर्तन को क्रांति का प्रतिरूप मान लेते हैं। इस ग़लती से समाज का अहित होता है।

हर युग में नया सुन्दर तत्त्व विज्ञान सम्मत होता है, विज्ञान हर युग में बढ़ा है, पर पिछले दो सौ वर्षों में इसकी गति का बड़ा विस्तार हुआ है, इतना विस्तार कि आज चन्द्रलोक मनुष्य की पहुँच में आ गया है। इस वैज्ञानिक प्रगति ने निर्माण और नाश दोनों अत्यन्त सहज कर दिये हैं। विज्ञान की यह शक्ति प्राचीन दुनिया को देखते हुए एक दम दैवीशक्ति सी लगती है, बल्कि उससे भी अधिक बड़ी। पुराना युग धीमा था, आहिस्तः आहिस्तः चीजें चलती थीं, पर जीवन में सत् का अधिक योग था, लोगों में ईमान था। आज चाल तेज हुई है, पर अविश्वास और सम्मोह भी बढ़ गया है। यह विरोधाभास अपने में बड़ी समस्या है। नये को छोड़कर पुराने पर जिन्दा रहना कठिन और नया छल-प्रपंचक मनोवृत्तियों से युक्त। बात पुराने और नये के समन्वय से बन सकती है, पर यह समन्वय आज अत्यन्त कठिन काम है। आज से चार सौ साल पहले यह इतना कठिन काम नहीं था। विचारक नेहरू इस प्रश्न को वैज्ञानिकों, विचारकों, दार्शनिकों, साहित्यिकों और धर्मविदों की गोष्ठियों में बार-बार रखते हैं, स्वयं इस पर मौन और अमौन चिन्तन करते हैं। उनका आग्रह है कि इस समन्वय को क्रियान्वित किया जाय।

उनका यह आग्रह युग का आग्रह है, वक्त की पुकार है। नई पीढ़ी का भी उन्होंने अनेक बार इस प्रश्न की ओर ध्यान खींचा है। हम समझते हैं कि आज के विद्यार्थियों, और नवयुवकों को इस प्रश्न पर बड़ा गम्भीर चिन्तन करना चाहिये। विद्यापीठों, विश्वविद्यालयों और नवयुवकों की सगोष्ठियों में इस पर विशद और विस्तृत पुनःपुनः चर्चा होनी चाहिये।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में श्री नेहरू ने सबसे पहले इसी प्रश्न को पेश करते हुए कहा, "आपने विज्ञान भवन के उद्‌घाटन के बहाने मुझे बुलाया, यह उचित ही था। हमारे देश के सामने बड़े-बड़े प्रश्न हैं। नये विज्ञान को प्राचीन संस्कृति के साथ-साथ कैसे जोड़ें, यह समस्या है। प्राचीन संस्कृति बुनियादी, स्फूर्तिदायक, शुद्ध और बहुत अच्छी है, और मुझे इसका अभिमान है, पर उसके साथ विज्ञान की उन्नति भी आवश्यक है। जिन-जिन देशों ने विज्ञान से लाभ उठाया, वे पैसे के लिहाज़ से बड़े उन्नत और खुशहाल हुए हैं। जिन्होंने ऐसा नहीं किया वे दरिद्र व गरीब हैं। खाली विज्ञान हो और कुछ चीज़ न हो तो भी लाभ नहीं हो सकता। हमारे देश की संस्कृति की जड़ें बड़ी गहरी हैं, इसलिये उसको विज्ञान के साथ मिलाना आवश्यक है। यह बड़ा कठिन काम है।"

भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक और आज के हमारे उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने भी इस प्रश्न को छुआ है। उनका कहना है कि विज्ञान की प्रगति होती जाय, यह बड़ी बात नहीं। बड़ी बात है मानव का हित। नेहरू तथा अन्य चिन्तक भी इसी पक्ष पर जोर देते हैं, प्राचीन दार्शनिकों और मुनियों ने भी मानव-मंगल पर बल दिया है। पर जैसा कि श्री नेहरू ने कहा है कि विज्ञान की नई प्रवृत्तियों को पुरातन की सुसंस्कृत परम्पराओं से जोड़कर मानव-मंगल साधने का यह कठिन काम कैसे किया जाय? क्या साधन अपनाये जायें? आज तो समस्याओं पर

समस्याएं सामने आती हैं। मानव उनमें उलझता जाता है, उसका मानसिक तनाव बढ़ता जाता है, और अनेक बार उसके विचार उलझी हुई डोर की तरह हो जाते है। पता ही नही चलता कि डोर के किस सिरे को पकड़कर डोर सुलझाई जाय? फिर भी इस प्रश्न को छोड़ा नहीं जा सकता। इसकी गहराई में जाने की आवश्यकता है:

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बिचारी क्या करूँ, रही किनारे बैठ ॥

इस प्रश्न को व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और संसार के संदर्भ में सोचने से काम चलेगा।

नेहरू ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिये अपने इसी भाषण में एक सूत्र दिया है, जिस पर गौर कर लेना आवश्यक है: "पहले राजनैतिक क्रान्ति का प्रश्न था, फिर आर्थिक क्रान्ति का प्रश्न उठा। वह प्रश्न अभी चल रहा है। पंचवर्षीय योजना आदि सब इसीलिये हैं। स्कूल, कालेज, विद्यालय, महाविद्यालय इसीलिये बनाए जाते हैं कि लोग वहाँ विद्या सीख कर देश को उठा सकें। हम चाहते हैं कि देश में कोई अनपढ़ न रहे। विधान में भी ऐसी बात लिखी है। यह इसलिये कि आदमी का चरित्र अच्छा हो और वह देश का कुछ काम कर सके। उत्साह की आवश्यकता है किन्तु केवल उत्साह से काम नहीं चल सकता। पुल बनाना हो तो केवल नारे लगाने से काम नहीं चलेगा। लोहार दर्जी का काम, इंजीनियरिंग आदि सबके लिये सीखना पड़ता है पर देश सेवा के लिए यह समझा जाता है कि उसके लिये सीखने की आवश्यकता नहीं। यह गलत बात है। विद्यालय आपको ढालते हैं। आपके मन को, आपके चरित्र को, बनाते हैं। सीखना तो सारी उम्र भर होता है। स्कूल-कालेज में तो खाली सीखने की नींव डाली जाती है। सीख कर हम अपने देश के, संसार के कामों में अपने को लगावें। इसके लिये आवश्यक

है कि हम दो चीजों को याद रखें। प्राचीन संस्कृति और नवीन विज्ञान। प्राचीन हरेक चीज अच्छी नही, नई चीज भी हरेक अच्छी नही। कोई चीज़ जमी नही रहती गङ्गा की तरह चलती जाती है। समाज का जीवन भी बदलता रहता है। वह एकसा नहीं रहता। हम बच्चे को कितनी भी सुन्दर पोशाक पहनायें पर जब वह बदलता है तो उसे दूसरा वस्त्र देना होता है, नहीं तो वह उस कपड़े को फाड़ डालता है। इसी तरह समाज की अवस्था है। जब समाज वस्त्र को फाड़ कर बदलता है तो उसी को क्रान्ति कहते हैं। इसलिए हमें समझना चाहिये कि पुराना सिलसिला भी रहे और *उसे बदलने का काम भी रहे, तभी ठीक-ठीक रहता है।* जल्दी-जल्दी बदलना भी ठीक नहीं होता। कोई समय आता है, जब बदलने की आवश्यकता होती है।"

इन पंक्तियों में श्री नेहरू ने समाज-विकास की प्रक्रिया पर सांकेतिक रूप से प्रकाश डाला है। समाज के परिवर्तन की गति वस्त्रों जैसी है। पुराने वस्त्रों के साथ-साथ नये वस्त्र भी बनते रहते हैं, और बनते रहने भी चाहियें। यदि ऐसा नहीं होता तो अच्छे से अच्छे वस्त्र असह्य हो जाते हैं। शरीर पर एक कमीज कब तक पहनी जा सकेगी? समाज-*विकास के लिये पुराना और नवीन दोनों चाहिएं।* इस चीज़ को नेहरू परिस्थिति विशेष का उदाहरण देकर भी समझाते हैं। आज की आर्थिक समृद्धि के लिये निश्चित रूप से वैज्ञानिक और तकनीकी ढंग ग्रहण करने पड़ेंगे, पर हम अपनी परम्परागत कर्त्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी और सत्यप्रियता को नही छोड़ेंगे, बल्कि उन्हें अपनाये रखेंगे। पारम्परिक सच्चरित्रता हमारा बल है, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि आज की वैज्ञानिकता। इस प्रवृत्ति पर श्री नेहरू ने ६ अक्टूबर १९५९ को आगरा के सेंटजान्स कालिज के शताब्दी-भवन का उद्घाटन करते हुए भी प्रकाश डाला, जबकि उन्होंने कहा कि शिक्षा की सच्ची भावना का मतलब

"पुरानी परंपराओं का ध्यान रखते हुए आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा का दान और चरित्र-निर्माण" है। अन्य पुरातन की सामाजिक और सांस्कृतिक निधियों में से हमारे लिए सबसे अधिक ग्राह्य चारित्रिक मर्यादाएं हैं। शुभ पुरातन और शुभ नवीन के समन्वय का यही सूत्र है। नवीन प्रवृत्तियों, नयी वैज्ञानिक उपलब्धियों में से नेहरू मंगल-परक तत्त्वों को लेना चाहते हैं। विज्ञान का सृजनात्मक पहलू ही इष्ट है, विनाशात्मक नहीं। नेहरू इस प्रसंग में इस बात पर बल दिया करते हैं कि हमारी संस्कृति और सभ्यता का हमेशा लक्ष्य मानव-मंगल रहा है। हमारे देश ने कभी किसी अन्य देश पर हमला नहीं किया और किसी अन्य ढंग से भी किसी का शोषण नहीं किया। 'सर्वभद्राणिपश्यन्तु' का भाव ही हमारे यहाँ सर्वोपरि रहा। नव रचना में श्री नेहरू भारतीय संस्कृति के इस शुभ पुरातन भाव को विश्व स्तर पर लाने का अनुरोध करते हैं।

इस प्रसंग में एक बात और हमारी संस्कृति में सत्य के प्रति आग्रह का भाव है, उसकी जय निश्चित मानी गई है: सत्यंजयते नानृतम् (सत्य की जीत होती है, झूठ की नहीं)। इस सत्य का प्रयोग हर क्षेत्र में होना चाहिये। सत्य के पुराने मापदंडों को हर युग के सत्यस्तर पर ले आना चाहिये। इसके लिये शोध, खोज और अनुसंधान की वृत्ति चाहिये। यह वृत्ति गतिशीलता की जननी है, विज्ञान की सृजिका है। उदाहरण के तौर पर हमारा औषधशास्त्र आयुर्वेद है; आज एलोपैथी में बड़ी उन्नति हो रही है, नित नये उपचार आ रहे हैं, ऐसी स्थिति में हम अपने आयुर्वेद की पुरानी मान्यताओं के सहारे ही नहीं बैठे रहेंगे। आज के सत्य का तकाजा है कि आयुर्वेद के पुराने सत्यों का फिर से मूल्यांकन करके उन्हें युगानुरूप बनाना, शोध-बुद्धि से अपने शास्त्र को आगे बढ़ाना और नयी वैज्ञानिक खोजों से अपने शास्त्र को आलोकित करना। इस संबंध में नेहरू का कथन है: "वैज्ञानिक पद्धति का

कायदा है कि जब नये सत्यों की खोज हो जाये, तो पुरानी गलतियों को छोड़ देना चाहिये।" (बम्बई के डाक्टरों और सर्जनों के कालिज में विशेष दीक्षात समारोह के अवसर पर १ जून १६५६ को दिये हुए भाषण से)

मानव-मंगल के लिये पुरानी और नई शुभ प्रवृत्तियों के समन्वय का यह ढंग है। इसके लिये आज के विद्यार्थी को अपने चिंतन, मनन और कर्म के लिये बड़ा लम्बा-चौड़ा मानसिक क्षेत्र तैयार करना होगा। उसे पुराने ऐतिहासिक उपलब्धियों का न केवल ज्ञान प्राप्त करना होगा, बल्कि अपने कर्म-क्षेत्र विशेष के लिए उपयोगी उपलब्धियों का विशेष अध्ययन करना होगा और मानस-क्षेत्र (संस्कृति तथा सभ्यता सम्बन्धी) की संपदाओं से उसे विभूषित करना होगा। निश्चित रूप से यह बड़ी साधना का काम है। इस कठिन काम के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक संपदाओं की सिद्धि करके "वैज्ञानिक स्वभाव" बनाना होगा।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय वाले भाषण में नेहरू ने इस विषय पर यों प्रकाश डाला है, "……बदलती दुनियाँ में हमें भी प्रकृति की शक्तियों का विज्ञान के द्वारा पता लगाना चाहिये। इन शक्तियों का दुरुपयोग हो सकता है और अच्छा उपयोग भी। चाकू से भाजी काट सकते हैं और गला भी काट सकते हैं। यहाँ चरित्र का प्रश्न आ जाता है। इन शक्तियों से सारे संसार का नाश भी हो सकता है पर कोई कुछ कह नहीं सकता कि आगे क्या होगा? यदि विश्व-युद्ध छिड़ जाय तो आधी से अधिक दुनिया नष्ट हो जाए और बाकी लूली लँगड़ी रह जाय। शक्तियों का अच्छा उपयोग करने से हम अपनी आर्थिक स्थिति को शीघ्र अच्छा कर सकते हैं। आपने विज्ञान-भवन के उद्घाटन के लिये मुझे बुलाया। यह मुझे बहुत अच्छा लगा। इस गुरुकुल का उद्देश्य प्राचीन संस्कृति का उद्धार करना था, वह इसने किया। यदि प्राचीन संस्कृति का सिल-

सिला टूट जाय तो भारत भारत न रहे। विदेशी राज्यों में कुछ पढ़े-लिखे लोगों का यह विचार बना था कि हम हरेक बात में यूरोप की नकल करें तभी हमारी उन्नति होगी। वह अशुद्ध विचार था।"

इस विचार-अशुद्धि का कारण उन शिक्षितों का ठीक प्रकार से 'वैज्ञानिक स्वभाव' न बनना था। नेहरू के इस विश्लेषण से यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

आगे बढ़ते जाओ

दर्शित भयेऽपि धातरि धैर्य ध्वंसो भवेन्न धीराणाम् ।
शोषित सरसि निदाघे, नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥
यस्य न विपदि विषादः, संपदि हर्षो, रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रय तिलकं, जनयति जननी सुतं विरलम् ॥

साक्षात् विधाता के द्वारा भय प्रदर्शित करने पर भी धीर एवं गंभीर, धीर पुरुषों का धैर्य कभी नष्ट नहीं होता है। ताल, तलैया, सरोवर आदि सभी जलाशयों के जल को सुखा देने वाले ग्रीष्म ऋतु में समुद्र और भी प्रचण्ड हो जाता है।

जिस पुरुष को विपत्ति में विषाद और दुःख, सम्पत्ति और समृद्धि में हर्ष तथा युद्ध में भय नहीं होता है; ऐसे तीनों लोक के भूषण स्वरूप पुत्र को कोई विरली माता ही उत्पन्न करती है।

नेहरू ने ऐसे ही पुत्र-पुत्रियों की कामना में अपना संदेश दिया।

"आप किसी भी बात से डरें नहीं। आपका नारा 'आगे बढ़ते जाओ' होना चाहिये।"

—जवाहरलाल नेहरू

श्री नेहरू ने पूना की गुजराती के सवानी मंडल की नई इमारत का उद्घाटन करते हुए ५ अक्टूबर, १९५९ को छात्रों के लिये 'आगे बढ़ते जाओ' का नारा दिया।

इस भाव को विशद रूप से उन्होंने पूना छावनी के मोलदिना एंग्लो-उर्दू हाई स्कूल में उसी दिन गांधी जी के चित्र का अनावरण करते हुए समझाया। उन्होंने कहा कि "हमारा युग क्रांतिकारी है और सारे संसार में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि तेजी से बदलते हुए जमाने के साथ क़दम मिला कर चलना चाहिये, नहीं तो देश अन्य राष्ट्रों से पिछड़ जायगा।"

नेहरू का यह उद्बोधन आज के नवयुवक के लिये मंत्र जैसा है। आज, जबकि देश न केवल आंतरिक आर्थिक कठिनाइयों और प्रशासनिक असमताओं से संतप्त है बल्कि हमारी सीमाओं के भी अतिक्रमण हो रहे हैं, उस समय नवयुवा शक्ति को प्रचण्ड रूप से जीवन के हर क्षेत्र में प्रतिक्रियावाद का डटकर मुकाबला करना चाहिये और सबल पर संयमित और अनुशासित भाव से सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को आगे बढ़ाना

चाहिये। बाधाएँ आती हैं, आती रहीं हैं, आयेंगी, पर जब जवानी संकल्प से भर जाती है तब पर्वत भी राई के समान हो जाते हैं। मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ा भय मृत्यु का होता है, किन्तु आगे बढ़ते जाने के भाव में मौत ही जिन्दगी नजर आने लगती है और आदमी उसकी चिन्ता किये बिना बढ़ता जाता है :

जब से सुना है मरने का नाम जिन्दगी है।
सर से कफ़नी बाँधे कातिल को ढूंढ़ते हैं॥

जिन्दगी के इस तौर में यह कैफ़ीयत हो जाती है कि क़ातिल की तलाश होने लगती है, क्योंकि क़ातिल की तलवार क्या मायने रखे ? विश्व तलवार से नहीं चलता, संकल्प से चलता है। संकल्प, वीरव्रत, ही जिन्दगी को शान हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि स्वनामधन्य श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने 'जवानी' नामक कविता में ठीक ही कहा है :—

विश्व है असि का—
नहीं, संकल्प का है;
हर प्रलय का कोण
काया-कल्प का है;
फूल गिरते, शूल
सिर ऊँचा लिये हैं।
रसों के अभिमान
को नीरस किए हैं।
खून हो जाए न तेरा देख, पानी।
मरण का त्यौहार, जीवन की जवानी॥

नेहरू को ऐसे ही जवान पसन्द हैं। उन्होंने हमेशा यह कहा है कि मुझे वे आँखें, जिनमें चमक होती है, अच्छी लगती हैं। उन्होंने पूना में भी कहा कि 'साहसी और धाकड़' नवयुवा और बच्चे देखकर मैं सदा खुश हो जाता हूँ। ऐसी ही जवानियाँ दुनियाँ में कुछ कर गुजरती हैं।

कहीं-कहीं उन्हें सहायता की जरूरत होती है, वे पा लेते हैं, पर समाज का भी कर्तव्य है कि वह उनकी सहायता करे। इस सम्बन्ध में नेहरू ने १३ अक्टूबर १९५६ को विजयवाड़ा में कांग्रेस कार्यकर्ताओं की बैठक में कहा कि होनहार और योग्य छात्रों की सदा मदद की जानी चाहिये। हमदर्दी का इशारा भी जिन्दगी में फूल खिला देता है और अगर अच्छी तरह से मदद मिल जाये, तो फिर क्या कहने ?

इस प्रसंग में सरकारी सहायता की बात भी कर ली जाये। वैसे तो सरकार छात्रों को छात्रवृतियाँ तथा अन्य सहायता देती है और सुनियोजित शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दे रही है फिर भी सुचारु रूप से इस दिशा में बहुत कुछ किये जाने की जरूरत है। श्री नेहरू ने इस प्रसंग में पहले भी और पूना मे भी आश्वासन दिया और समूचे देश में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप सार्वदेशिक शिक्षा का आदर्श रखा।

अब यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि आगे बढ़ा जाये तो किस विचारधारा को लेकर बढ़ा जाय ? क्योंकि जीवन में विचारों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वे तो जीवन-रथ की धुरि हैं। उनके बिना कर्म भी भली-भाँति नही सरता। नेहरू इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने को कहते हैं, असम्प्रदायवादी और मानवतावादी विचार तत्वों के अर्जन के लिये कहते हैं। राजनैतिक शब्दावली मे उनका कहना है, "भारत न तो अमरीका की पूँजीवादी पद्धति की नकल करेगा और न सोवियत संघ के कम्युनिस्ट दर्शन का। वह तो समाजवादी समाज की मंजिल की ओर अपनी राह ही जायगा। तमाम दुनिया में हिन्दुस्तान को यह विशिष्टता प्राप्त है कि वह योजना के कारण आर्थिक और सामाजिक प्रगति जल्दी-जल्दी कर रहा है और साथ ही अपनी जनतांत्रिक संस्थाओं और वैयक्तिक ढाँचे को भी कायम रखे हुए है।" नेहरू का मंतव्य है कि नई पीढ़ी को भारत की इस विशेषता को कायम रखना चाहिये, और इसी विचारधारा को अपना कर अपने कदम बढाने चाहियें। नेहरू किसी भी सूरत में

बाहरी सहायता लेने के लिये सुझाव नहीं देते ।

वह अपनी शक्ति का निर्माण स्वय ही करना और कराना चाहते हैं । अपनी योजनाएं हों, और अपना श्रम हो । कांग्रेस महासमिति के हाल ही के चंडीगढ़ अधिवेशन में उन्होंने योजनाओं को देश की जन्म-पत्री कहा था, और नागार्जुन सागर बांध पर १२ अक्तूबर १९५९ को जब एक मजदूर ने बांध के काम को 'शांति का दीप' पुकारा था, तो उन्होंने खुश होकर कहा था कि वास्तव में हमारे ये निर्माण-कार्य 'शांति के दीप' हैं । वस्तुतः उस मजदूर ने नेहरू की भावना को ही जैसे 'शांति के दीप' की संज्ञा दे दी । वह अनेक बार कह चुके हैं कि विज्ञान के साथ मानवीयता की भावना अवश्य जुड़ी रहनी चाहिये । इस मानवीयता के साथ जुड़े रहने से विज्ञान का सृजनात्मक पक्ष ही प्रबल रहता है और उससे 'शांति के दीप' प्रज्वलित होते जाते हैं ।

अब प्रश्न है कि शांति के ये दीप कैसे अधिक से अधिक संख्या में जलें ? *श्रम तो एक चीज हो गई, पर दीप को जलाने के लिये तो पात्र,* स्नेह और वाती भी चाहिये । पात्र से मतलब मशीनों से ले लेना चाहिये । देश के सुविस्तृत आर्थिक और औद्योगिक निर्माण के लिये मशीनों का भारत में ही बनाया जाना बड़ा आवश्यक है, 'पूंजीगत माल' अधिक से अधिक और शीघ्र से शीघ्र भारत में ही तैयार किया जाना जरूरी है । इस 'पूंजीगत माल' का सम्बन्ध इंजीनियरों और कुशल कारीगरों से है । पात्र के लिये तेल (स्नेह) हो, स्नेह से तात्पर्य इंजीनियरों और टेक्नीशियनों से ले लिया जाय । और वाती, वह प्राकृतिक साधनों का पर्याय *मान ली जाय, अपने प्राकृतिक साधनों का भरपूर उपयोग किये बिना* तेल का क्या हो ? 'शांति के दीप' जलाते रहने का यह ढंग है, जो नौजवानों की समझ में आ जाना चाहिये । इसी ढंग से वे अपने देश की समृद्धि और रक्षा कर सकेंगे । श्री नेहरू ने हैदराबाद में ११ अक्तूबर १९५९ को ठीक ही कहा था, "बाह्य आक्रमण का सामना करने

के लिये भारत को अपनी आन्तरिक शक्ति का निर्माण करना होगा। देश के निर्माण का एक साधन औद्योगिक क्रान्ति है। देश की समृद्धि तथा प्रगति वैज्ञानिक एवं तक्नीकी जानकारी के प्रसार से प्रारम्भ हो जाती है।

"पश्चिमी राष्ट्रों ने गत १५० वर्षों में बड़ी वैज्ञानिक तथा सामाजिक प्रगति की है। अनेक बड़े लक्ष्यों की प्राप्ति मे लगे हुए हैं। भारत विश्व के देशो से पीछे नही रह सकता। भारत को पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा अपनाये गये उपायों से आर्थिक और वैज्ञानिक प्रगति करना सीखना चाहिये। भारत को इस उद्देश्य के लिए न केवल भारी उद्योगों के विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करना चाहिये, अपितु कृषि उत्पादन बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। खाद्यान्न तथा अन्य कृषि उत्पादनों मे वृद्धि के लिये कृषि-सुधार किये जा रहे हैं।"

इस चीज की ओर नेहरू नई पीढ़ी का ध्यान बारंबार दिलाते हैं। वह चाहते हैं कि उनके इस दृष्टिकोण से रोशनी लेकर नवयुवा शक्ति आगे बढ़ती जाय।

यहाँ अब एक प्रश्न आम उठा करता है, और वह यह कि नौजवान बढ़ने का सक्ल्प तो ले लें, कदम भी बढ़ा दें, पर उन्हें तो चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा नज़र आता है। उन्हें यह नहीं सूझता कि वे करें क्या? अपनी सेवाएं दें कहाँ? कह दिया जाता है कि गन्दी बस्तियों के सुधार, ग्रामों के विकास और बाँधादि के निर्माण में छात्र अपनी सेवाएं दे सकते हैं; समाजवादी विचार धारा के प्रचार के लिए वे जनता में जा सकते हैं आदि-आदि। मैंने देखा है कि छात्र और युवाशक्ति इससे संतुष्ट नहीं होते। युवक कहते हैं कि ठीक, हम सड़कें भी बना दें, कुएं भी खोद दें, सफाई का कार्य भी कर दें, ग्राम जनता को नई वैज्ञानिक शोधों और दृष्टिकोणों से परिचित भी करादें, पर यह सब कब तक करें? फिर अगर करें भी तो हमें कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। सरकारी क्षेत्रों

से पूरा सहयोग नहीं मिलता। इसके अलावा सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि रचनात्मक और सृजनात्मक शब्दों के नेता लोग भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं। हमारी समझ में यह नहीं आता कि हम किस अर्थ को सही मानें ?

छात्रों और युवकों के इस कथन में वज़न अवश्य है। इस पर नेताओं को ध्यान देना चाहिये। पर मैं यह समझता हूँ कि नेहरू युवा-शक्ति को इन चक्करों से ऊपर उठाना चाहते हैं। उनका कहना है कि युवक समाज के नेतृत्व को अपने हाथों में खुद लें, चीज़ों पर खुद विचार करके अपने कार्य-क्रम खुद बनायें। उन्होंने कई जगहों पर कहा है कि युवकों ने अनेक देशों में संकट काल में देश के नेतृत्व को सँभाला है। छात्रों और युवकों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से देश की समस्याओं पर गौर करके निजी और सामूहिक रूप में काम करना चाहिए। इसी लिये वह छात्रों के लिए आत्म संयम. और अनुशासन की भावना पर बल देते हैं। इसके अलावा अपनी सेवाएं सर्वोत्तम ढंग से देने के लिए वह छात्रों को विभिन्न शाखाओं में विशेषज्ञ हो जाने की सलाह देते हैं। विशेषज्ञ अपने अपने क्षेत्रों में अपनी भरपूर सेवा दे सकता है, विशेषज्ञ होकर बस उसी खूँटे से न बँधा रहे, उसे जीवन के विविध पहलुओं में भी दिलचस्पी लेनी चाहिये, यानि कि वह जीवन को जीवन-कला जानकर जिये। इस विषय में वह कई बार अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं।

'आगे बढ़ते जाओ' नारे में ऊपर के सब भाव आजाते हैं, बल्कि कहना चाहिये कि इन भावों को हृदय में ग्रहण किये बिना आगे बढ़ना नितांत कठिन है, अनेक अंशों में असंभव है। आगे बढ़ते जाने के लिए दो चीज़ों की और आवश्यकता है। एक तो समूचे देश में शिक्षा-प्रसार की और दूसरे एकता की।

सर्वदेशव्यापी शिक्षा तो सरकार का लक्ष्य बन चुकी है और उस सिलसिले में सरकार क़दम उठा रही है। अभी हाल ही में आंध्र में और

उससे कुछ थोड़ा पहले राजस्थान में श्री नेहरू ने कुछ ग्राम्य क्षेत्रों में सत्ता की विकेन्द्रीकरण योजना का उद्घाटन करते हुए कहा था कि हर गाँव गाँव में स्कूल होगा। इस समय भी श्री नेहरू के अनुसार भारत के सब स्कूलों तथा कालेजों में लगभग चार करोड़ छात्र तथा अध्यापक हैं। तीसरी योजना के अन्त में यह संख्या सात-आठ करोड़ तक पहुँच जायगी, स्वतन्त्रता के बाद देश में शिक्षा संस्थाओं की संख्या दूनी हो गई। मैट्रिक पास करने वालों की संख्या भी १९४८ और १९५६ के बीच चौगुनी हो गई है। इन्जीनियरी छात्रों की संख्या १९५५ में १५,००० थी, जो १९५८ मे बढकर ३१,००० हुई है याने कि तीन वर्षों में संख्या दुगुनी हुई है। स्वतन्त्रता के बाद १६,००० से भी अधिक छात्रों ने एम० एस० सी० या समकक्ष परीक्षा पास की है, इनकी संख्या अंग्रेजी शासन में ३२,००० है। इसका अर्थ यह है कि पूरे अंग्रेजी काल में जितने वैज्ञानिक बने, उससे अधिक आज़ादी के बाद बने हैं। तब से वैज्ञानिक अनुसंधान पर खर्च भी दूना हो गया है। यह प्रगति उत्साह जनक तो है, पर संतोष जनक नहीं। अभी सामान्य और तकनीकी शिक्षा दोनों क्षेत्रों में बहुत काम करने को है। यहां जहाँ सरकार का दायित्व है, वहाँ देश की जनता और नई पीढी का भी दायित्व है। शिक्षित युवक तभी पूरी तरह आगे बढ़ सकते हैं, जबकि और भी युवक पढ़ने वाले होते जायँ।

दूसरी चीज है एकता। इस सम्बन्ध में नेहरू भावनात्मक संगठन पर ज़ोर देते रहे हैं। इसके अतिरिक्त एक तत्व और है, वह है अपने देश को पूरी तरह से समझने का, अपने देश की विभिन्न संस्कृतियों को जानने और उनमें समन्वयात्मक भाव निकालने का। यह कार्य भारतीय दर्शन के अध्ययन, मनन और देशाटन से होगा। प्रसन्नता की बात है कि कम से कम देशाटन की प्रवृत्ति अब बढ़ती जारही है और इस सिलसिले में सरकार और जनता दोनों दत्तचित्त हैं। संस्कृति के साथ-साथ भाषा का भी प्रश्न आ जाता है। नेहरू का अभिमत है कि नवयुवकों और नवयुवतियों को अधिक

से अधिक भाषाएँ सीखनी चाहिएँ। किसी भी भारतीय भाषा से विद्वेष नहीं होना चाहिए। उनका कहना है, "विभिन्न भाषाओं में बहुत से समान शब्द हैं और किसी भी भाषा का विकास अन्य भाषाओं के विकास में सहायक होता है। नई पीढ़ी को यथा संभव अधिक से अधिक भाषाएँ सीखनी चाहियें। 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान में मैं जब अहमदाबाद-जेल में था तो मैं मौलाना अबुलकलाम आजाद से फारसी सीखता था, लेकिन दुर्भाग्य से 'ट्यूशन' मेरे इस जेल से तबादला हो जाने के कारण लम्बा नहीं चल सका।" (५ अक्टूबर को पूना में भाषण)।

देसी विदेसी भाषाएँ जितनी आ जायें, सो ठीक वह कहते हैं कि हिंदी तो राष्ट्रभाषा हो ही चुकी है, उसका जानना तो है ही ज़रूरी। हिन्दी के साथ-साथ अपनी अपनी प्रादेशिक भाषाओं का जानना, सीखना और पढ़ना भी अनिवार्य है। अंग्रेज़ी का नम्बर दूसरा आता है। अंग्रेज़ी का अध्ययन तक्नीकी शिक्षा की दृष्टि से वह महत्वपूर्ण मानते हैं। इसके बाद जितनी भी भारतीय और अभारतीय भाषाएँ पढ़ी जा सकें, पढ़नी चाहियें।

इस प्रकार सीखने की प्रबल इच्छा लिये, जो कुछ सीख लिया है उसे कर्म में परिवर्तित करते हुए, देश को समुन्नत राष्ट्रों के समकक्ष लाने के लिए विज्ञान और तक्नीक का शिक्षण लेकर और साथ ही मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत होकर राष्ट्रीय संस्कृति के उदारतामूलक तत्वों को ग्रहण करके और भाषाविद्वेषी न होकर देश के नवयुवकों और नवयुवतियों को आगे बढ़ते जाना चाहिये।

नेहरू का यह नारा देश की आत्मा की आवाज़ है, भारत मां की आवाज़ है, इस आवाज़ को सुनकर जो आगे बढ़ेगा, वह सपूत है, और सपूत कौन न होना चाहेगा?

तूफानों के बीच मांझियों से

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिन्तु सारथिविद्धिमनः प्रग्रहमेव च ।

आत्मा रथी है और शरीर रथ। बुद्धि सारथी है और मन लगाम। शरीर का रथ बुद्धि रूपी सारथी की कृपा से चलता है। वह मन की लगाम से इन्द्रियों के घोड़ों को साधकर आत्मा को उद्दिष्ट स्थान पर ले जाता है। विवेक तथा इन्द्रिय निग्रह शरीर यात्रा के सम्यक संचलन की गारंटी है। अनुशासन और आत्मानुशासन की यही विधि है।

श्री नेहरू प्रजातन्त्र के रथ के ठीक तरह से चलने के लिए इन्हीं गुणों के विकास पर बल देते है और विशेष कर उस युग में, जब प्रजातंत्र बाहरी शक्ति के अतिक्रमण से कर्ण के रथ की तरह जमीन में धँसा-सा जा रहा है। इस प्रसंग में अर्जुन के नाम कृष्ण का उद्‌बोधन याद आ जाता है। भारत ने बड़े-बड़े संकट देखे हैं पर अपने मनोबल से वह जयी हुआ है।

"आप में जितना अधिक अनुशासन होगा, आप में उतनी ही आगे बढ़ने की शक्ति होगी। चाहे अनुशासन थोपा हुआ हो, चाहे आत्मानुशासन इसके *बिना कोई भी देश बहुत समय तक नहीं टिक सकता।"*

—जवाहरलाल नेहरू

भारत का उत्तरी सीमांत चीनी सेनाओं के अतिक्रमण से रक्त रंजित हो गया है। लद्दाख में भारतीय सीमा में ४५ मील आकर चीन के सैनिकों ने ६ भारतीय सिपाहियों की हत्या की और १० सिपाहियों को पकड़ कर ले गये। चीन मेकमहोन रेखा को सीमांत रेखा मानने को तैयार नहीं और लद्दाख के ८,००० वर्ग मील क्षेत्र पर अपना दावा जता रहा है।

चीन के इस कदम से भारतीय जनता का खून खौल उठा है; और ग्राम-ग्राम, नगर-नगर और डगर-डगर में हिन्दुस्तान के दिल की बौखलाहट देखने में आती है। कुछ दिन पहले जहाँ भारत का आकाश 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' के नारे से गूँजता था, वहाँ 'चीन मुर्दाबाद' के नारे सुनाई दे रहे हैं।

हमारे देश के छात्र-छात्राओं और नौजवानों का रोष चरम सीमा तक पहुँच गया है। जगह-जगह चीन के इस कृत्य के विरुद्ध जलसे हो रहे हैं और प्रदर्शन किये जा रहे हैं। बहुत सी जगहों पर नौजवान अपने

खून से हस्ताक्षर करके अपने देश की आन पर मर मिट जाने की प्रतिज्ञा ले रहे हैं। नौजवानों का क्रोध इस विदेशी आक्रमण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वे अपने देश के नेतृत्व की भी आलोचना कर रहे हैं।

नौजवानों की इन गतिविधियों पर श्री नेहरू ने एक से अधिक बार अपने विचार प्रकट किये हैं। आगरा के पास बिचपुरी में १० नवम्बर, १९५९ को चीनी दूतावास के सामने हुए छात्रों के एक प्रदर्शन को लक्ष्य करके कहा कि *यह सब 'बचकानापन' है।* इंदौर में १२ नवम्बर ५९ को एक सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए उन्होंने इस संबंध में पुनः कहा, ? कुछ स्थानों पर छात्रों ने सीमांत पर चीनी आक्रमण के विरुद्ध जलूस निकाले हैं। मैं *जलूसों के विरुद्ध नहीं हूं, लेकिन इन जलूसों का उन पर कोई असर* नहीं पड़ता, जिनके विरुद्ध ये निकाले जाते हैं, क्योंकि वे (चीनी) यहां से दस हजार मील की दूरी पर रहते हैं, और उन पर इन जलूसों का ज्यादा असर नहीं पड़ता।"

छात्र और नौजवान नेहरू की इस आलोचना से प्रसन्न नहीं हुए, क्योंकि उनका नया खून अपने जोश को रास्ता देने के लिये कुछ न कुछ कार्रवाई की मांग करता है। नेहरू ने जब प्रदर्शनों को 'बचकानापन' कहा तो नौजवानों की तरफ़ से पुकार उठी कि वह न खुद कुछ करते हैं और न दूसरों को कुछ करने देते हैं। नौजवान सवाल करते हैं कि जब देश पर 'दुश्मन का पंजा है' तो उन्हें उस खून पंजे को ताकत से हटा देना चाहिए। इस जोश की गर्मी में उन्हें नेहरू का ठंडा लहजा अच्छा नहीं मालूम देता।

श्री नेहरू ने इस भावना को महसूस किया और अपनी इंदौर की सार्वजनिक सभा में इस सवाल को उठाते हुए उन्होंने कहा, "अभी कुछ देर पहले मैं यहीं के एक कालेज में चार हजार छात्रों के सामने भाषण कर रहा था। मैंने छात्रों से कहा कि सीमांत पर

चीनी आक्रमणों के विरुद्ध अपने क्रोध के प्रदर्शन के लिए जलूस *निकालने के बजाय वे राष्ट्रीय केडट कोर में शामिल हो जायें।* वे हाथों से छात्रावास बनाने या ऐसा ही कुछ काम करने की शपथ लें। इससे चीजों को प्रभावशाली ढंग से करने तथा बड़ी समस्याओं का मुकाबला करने में उनके इरादे और साहस का पता चलेगा। केवल जलूस निकालने या नारे लगाने से कहीं ज्यादा इस चीज़ का दूसरों पर असर पड़ेगा।"

नई पीढ़ी के लिये नेहरू के ये विचार माननीय हैं। राष्ट्रोन्नति के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति और साहस के साथ अधिक से अधिक कर्म की आवश्यकता है। कोई भी देश मात्र जोश पर जिंदा नहीं रह सकता। जोश कर्म में आ जाना चाहिये। इसी को लक्ष्य करके नेहरू ने सलाह दी कि *देश-रक्षा के लिये राष्ट्रीय केडट कोर में छात्र शामिल हों अथवा कोई* रचनात्मक एवं सृजनात्मक काम करें। छात्रों की इस प्रवृत्ति का देश के अन्य वर्गों पर भी प्रभाव पड़ेगा, और आक्रांताओं अथवा आक्रमणेच्छुओं पर भी असर पड़ेगा। कर्मशील राष्ट्रों पर हाथ उठाने का हौसला बहुत कम देशों में जगता है।

छात्र-छात्राओं और नई पीढ़ी की रचनात्मक प्रवृत्तियों के लिए और विक्षुब्ध वातावरण में शांतिपूर्ण आत्म-निर्माण के लिये श्री नेहरू ने विक्रम विश्वविद्यालय (उज्जैन) में ११ नवम्बर, '५६ को अपने विचारों को कुछ अधिक विस्तार से व्यक्त किया था। उन्होंने नई पीढ़ी से आत्मानुशासन के विकास तथा वैज्ञानिक युग की समस्याओं की चुनौती *के मुकाबले की तैयारी के लिए अनुरोध किया।*

श्री नेहरू ने इस विश्वविद्यालय में प्रथम दीक्षांत भाषण करते हुए कहा कि बिना अनुशासन के संसार का कोई भी देश न तरक्की कर सकता है और न बदलते दौर के साथ क़दम मिलाकर चल सकता है।

श्री नेहरू ने कहा : "अधिनायकवादी राज्य और प्रजातांत्रिक राज्य में मूल अंतर अनुशासन का है। पहली राज्य प्रणाली में अनुशासन थोपा जाता है, जबकि दूसरी राज्यपद्धति में आत्मानुशासन होता है, ऐसा अनुशासन जो जनता खुद ब खुद ग्रहण करती है। अगर आप में आत्मानुशासन नहीं है तो हमारे यहाँ जनतंत्र के कोई मायने नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह पंचायती क्षेत्र हो, चाहे शिक्षा का क्षेत्र या कोई अन्य क्षेत्र, आत्मानुशासन आवश्यक है।

"आप में जितना अधिक अनुशासन होगा, आपमें उतनी ही आगे बढ़ने की शक्ति होगी। कोई भी वह देश, जिसमे न तो थोपा गया अनुशासन है, और न आत्मानुशासन, बहुत समय तक नहीं टिक सकता।

"विज्ञान के युग की चुनौती मंजूर करने के लिये आपको सर्वांगीण मानसिक अनुशासन का विकास करना चाहिये। हजारों असंगठित व्यक्तियों की अनुशासनहीन भीड़ के मुक़ाबले थोड़े से अनुशासित व्यक्तियों का गुट अधिक शक्तिशाली होता है। गांधी जी द्वारा चलाया गया आज़ादी का बड़ा आंदोलन इसीलिये सफल हुआ कि उसमें उन्होंने एक हद तक अनुशासन पैदा किया था।

श्री नेहरू की यह सीख बड़ी उपयुक्त है। छात्र और युवा वर्ग में अनुशासन और आत्मानुशासन की कमी की, आज़ादी के बाद, आम शिकायत हो गई है। इसकी उपयोगता पर लगभग सभी दलों के नेता बोल चुके हैं, आज के इस दौर में इसकी उपादेयता अत्यधिक है। आज़ादी के बाद चीनी अतिक्रमण देश पर दूसरा झटका है। पहला झटका पाकिस्तान की ओर से कश्मीर पर आया था। वह झटका इतना तीव्र न था, क्योंकि पाकिस्तान की फ़ौजी शक्ति भारत के मुक़ाबले कुछ न थी। पर अब की बार झटका सहस्र गुने वेग से आया है, क्योंकि

चीन का जनबल, सैन्यबल और अर्थ बल भारत से निश्चित रूप से अधिक है। चीन में कम्युनिस्ट शासन है, वहाँ केवल एक पार्टी कार्य करती है। शुरू-शुरू में वहाँ पर कुछ और भी छोटे-मोटे वाम पक्षी राजनैतिक दल काम करते थे, पर बाद को धीरे-धीरे शून्य प्रायः हो गये। यद्यपि चीन के नेता माओत्से तुंग ने पिछले वर्षों में कहा था कि "सौ फूल एक साथ खिलें", पर सौ फूल नहीं, वहाँ केवल एक फूल खिलता है, कम्युनिस्ट पार्टी का ही वहाँ प्रभाव है। इस तरह वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी का पूर्ण अनुशासन है, पार्टी के ही तौर-तरीके हैं इसलिये वहाँ की जनता एक ही नियम से चलती है। यह नियम वहाँ के लोगों को अनुशासित ढंग से चलाता है।

साम्यवाद बुरा है, या अच्छा, इससे हमारा यहाँ सरोकार नहीं। सरोकार इस बात से है कि वह एक वैचारिक और धार्मिक शक्ति है। भारत ने सहअस्तित्व का सिद्धांत मान कर साम्यवादी शासनों का विरोध नहीं किया, और चीन के साथ उसके बड़े ही मधुर सम्बन्ध थे, लेकिन चीन के अपने स्वार्थ हैं कि यह विवाद भारत के सामने आ खड़ा हुआ है। आशा है कि यह हल भी हो जायगा, पर इस चुनौती ने देश के सामने यह प्रश्न अवश्य खड़ा कर दिया है कि उसे अपनी गाड़ी ठीक ढंग से चलानी होगी, यों ही ज्यों त्यों गाड़ी चलाने से काम नहीं चलेगा। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा दायित्व नयी पीढ़ी का है, यहाँ के नवयुवकों और नवयुवतियों का है। उच्छृंखलता और मात्र सैरोतफ़रीह की भावना से वे अपने को और देश को गिरायेंगे। इसलिये चारित्रिक संयम, मानसिक दक्षता और-आत्म-सिद्धि के लिये उन्हें यत्नशील होना होगा। तन और मन की शक्तियों का विकास करना होगा। नेहरू ने इस संदर्भ में गांधी के नेतृत्व का उल्लेख किया है। गांधी ने अपने और राष्ट्र के जीवन में अपने तौर से संयम-नियम पर बड़ा बल दिया था, उसका सुफल देश के

सामने आया। देश जितना उस ओर नहीं चल सका उसका फल भी सामने है। खैर, सुबह का भूला यदि शाम को घर आ जाय तो वह भूला नहीं कहाता।

इस दृष्टि से छात्रों और युवावर्ग को कायिक, वाचिक और आत्मिक अनुशासन को लाने के लिये सचेष्ट हो जाना चाहिए। पर यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह कि अनुशासन या आत्मानुशासन ऐसी चीज नहीं कि किसीने उसका नाम ले दिया, और वह जीवन में उतर आया। हमारे देश में एक शब्द चलता है, तप। हमारे यहाँ बड़े तप हुए हैं। उन तपों में आत्मसिद्धि का बड़ा स्थान था। वही आत्मसिद्धि आज आत्मानुशासन नाम से चलती है। इसकी एक प्रक्रिया है, एक ढंग है, एक नियम है, एक सिद्धांत है। उसे जान कर और अपने जीवन में उतार कर आत्मानुशासन लाया जा सकता है। इस विषय का पूर्ण विवेचन मैंने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय अनुशासन' में किया है। आत्मानुशासन से राष्ट्रीय अनुशासन तक की सिद्धि कैसे हो सकती है, यह आज के दौर में जानना बड़ा जरूरी है। आत्मानुशासन प्रारम्भ होता है व्यक्ति से, किंतु व्यक्ति समाज की इकाई है, हर व्यक्ति यदि अपनी-अपनी जगह ठीक तरह से काम करे तो पूरा समाज विकसित होता है, और समाज के नियमित और विकसित होने से राष्ट्र विकसित और नियमित होता है और राष्ट्र के विकसित और अनुशासित होने से संसार कमल-दल की भाँति सुशोभित होता है। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि राष्ट्र के विकसित और अनुशासित होने से चीन और भारत जैसे कुप्रसंग भी आ खड़े होते हैं। यहाँ क्षुद्र स्वार्थों को तिलांजलि देने की बात आती है। यह बात तो राष्ट्रों को सोचनी होगी। नवम्बर '५६ में भारत-चीन सीमा विवाद के संदर्भ में सोवियत संघ के प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव ने कहा कि रूस-इरान का सीमा विवाद शांति से हल हो गया। रूस ने अपना थोड़ा भू-भाग इरान को दे दिया। ख्रुश्चेव ने कहा कि हमारे लिये थोड़ी-

सी भूमि का क्या महत्त्व है। यह क्षुद्र स्वार्थों की तिलांजलि का, सह-अस्तित्व का, अच्छा उदाहरण है। यहाँ पर हम यह बल नहीं दे रहे हैं कि सोवियत संघ की शासन-प्रणाली अच्छी है, या बुरी। इस जगह हमारा यह विषय नहीं। सह-अस्तित्व का यह एक उदाहरण है। राष्ट्रों में भी आपसी समझ पैदा हो सकती है। पर सब के मूल में है आत्म-बल, मनोबल। सभी राष्ट्रों को यह बल प्राप्त करना होगा। कायरों या केवल गाल बजाने वालों का आज तक कहीं निस्तार नहीं हुआ है। आज के दौर की पुकार है अपनी, अपने समाज की, अपने राष्ट्र की शक्ति को जगाओ और इससे मनोबल प्राप्त करके वैज्ञानिक साधनों के द्वारा देश को अधिक से अधिक समृद्ध करो, शोषण तथा भ्रष्टाचार को समाप्त करके कुशल प्रशासन के द्वारा देश की नैया को आगे बढ़ाओ। श्री नेहरू आजकल इन्हीं भावनाओं पर ज़ोर दे रहे हैं। आज कर्म-युग है, कर्म ही आज की शक्ति है, इसलिये सद्भावनाओं से संपन्न होकर कर्म करना ही आज का सबसे बड़ा दायित्व है। कर्म का संकल्प जगना चाहिये। इसीसे हम तूफ़ानों की छाती पर बैठ कर सुख-सुविधा की दुनिया में पहुँच सकेंगे।

श्री नेहरू ने कर्म की मीमांसा अनेक बार की है। पिछले अध्यायों में उसका वर्णन हुआ है। हमारे नेता नेहरू 'बाबूगिरी' की मनोवृत्ति को पसंद नहीं करते। उनका कहना है कि शारीरिक श्रम अधिक-से-अधिक होना चाहिये। इससे उनका यह तात्पर्य नहीं कि बौद्धिक श्रम न हो। वह तो दोनों श्रमों के बीच संतुलन के हामी हैं। उन्होंने अपने इन विचारों की व्याख्या दिल्ली के जामिया ग्राम विद्यालय के प्रथम दीक्षांत समारोह में २२ नवम्बर, १९५९ को इस तरह की :

"अपने हाथों से काम करने को यदि हेय दृष्टि से देखा गया, तो देश का नाश हो जायगा।"

"शारीरिक श्रम से नफ़रत का मतलब है कि हम गाँवों में

रहने वाले लोगों से, जिनकी ग्राबादी कुल ग्राबादी का ८० प्रतिशत है, नफ़रत करते हैं। मैं इस समस्या पर बहुत गंभीरता से सोच रहा हूँ। मेरा खयाल तो कभी यह होता है कि हम कुछ समय के लिये उच्च शिक्षा को रोक दें, ताकि बाबूगिरी का दौर निकल जाय।"

ग्रपने इस खयाल पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा, "मैं ऊँची शिक्षा का विरोधी नहीं हूँ, किंतु मैं चाहता हूँ कि शारीरिक ग्रौर बौद्धिक श्रम के बीच संतुलन हो। इन दोनों चीजों में जितना समन्वय होगा, उतना ही ग्रादमी जीवन के निकट होगा ग्रौर उतना ही उसका जीवन सर्वांगपूर्ण होगा।"

स्वस्थ तन ग्रौर स्वस्थ मन एक दूसरे के पूरक हैं ग्रौर इसी तरह शारीरिक ग्रौर मानसिक कर्म। ऐसा न होने से राष्ट्र को क्या हानि हो सकती है, इस सिलसिले में श्री नेहरू ने भारत के उन इंजीनियरों का उल्लेख किया, जो मोटर कार की मरम्मत करने के लिये उसके नीचे लेटने को तैयार नहीं होते, बल्कि चाहते हैं कि दूसरा ही ग्रादमी वह काम करे। यह बात रूस, ग्रमरीका ग्रादि ग्रन्य देशों के इंजीनियरों के दृष्टिकोण के सर्वथा विपरीत है, जहाँ बड़े-से-बड़े इंजीनियर भी बाहें चढ़ा कर काम करने से नहीं कतराते।

प्रधानमंत्री ने इसी भाव की व्याख्या करते हुए कहा, "भारत में काम करने वाले विदेशी इंजीनियरों की राय में भारतीय इंजीनियर खुद काम करने की ग्रपेक्षा कुर्सी पर बैठे रहना ज्यादा पसंद करते हैं। हमें विदेशी इंजीनियरों को बड़ी-बड़ी तनख्वाहें देते हुए तकलीफ़ होती है, किन्तु क्या करें, वैसा करने को हम मजबूर हैं।"

वास्तव में यह स्थिति बड़ी दयनीय है। देश भक्ति का ग्रर्थ ग्राज देश के विकास में हर तरह से सहयोग देना है। हममें से ग्रनेक नेहरू की नीतियों से, उनकी सरकार के प्रशासन से ग्रसंतुष्ट हो सकते हैं, पर देश

के निर्माण के लिये नई पीढ़ी के नाम जो उनका संदेश है, उससे असहमत नहीं हो सकते। कोई भी राज्य-प्रणाली हो, कोई भी शासन-प्रणाली हो, देश की उन्नति के लिये काम तो करना ही होगा। साहिबी और बाबूगिरी की मनोवृत्ति को तो छोड़ना ही होगा। कोई किसी भी राज-नैतिक दल से सम्बद्ध हो या निर्दलीय हो, किन्तु देश से तो उसका संबंध है। इसलिये देश की खातिर काम करना ही होगा और झूठी प्रतिष्ठा तथा शान को छोड़कर काम करना होगा।

एक कठिनाई हमारे यहाँ और है। लोग, चाहे वे इंजीनियर हों, डाक्टर हों, अध्यापक हो या कोई कुछ और, गाँवों में जाकर न बसना पसन्द करते हैं और न गाँव वालों की सेवा में रुचि लेते हैं। यह रोग शहरों के नवयुवकों और नवयुवतियों में ही नहीं है, बल्कि गाँवों के पढ़े-लिखे शिक्षितों में भी है। इस तरह गाँव, जहाँ भारत के प्राण बसते हैं, पिछड़ रहे हैं। सरकारी कर्मचारियों को जब वहाँ भेजा जाता है तो वे किसी न किसी तरह से अपना पिंड छुड़ाकर भाग आना चाहते हैं। यह ठीक है कि गाँवों में उन्हें नागरिक सुविधायें तथा अच्छे शिक्षामय वातावरण की दिक्कत हो सकती है, उसके लिये उन्हें सरकार से सहयोग लेना चाहिये, पर कायरों की तरह सेवा का वह पुण्य-क्षेत्र छोड़कर नहीं भागना चाहिये।

> इस सम्बन्ध में श्री नेहरू ने ठीक ही कहा है, "गाँवों के देश भारत में शिक्षा का सम्बन्ध ग्रामों से होना चाहिये।······किसानों के सैकड़ों बेटे कालिज की शिक्षा पा लेने के बाद गाँव वापस नहीं जाना चाहते। वे नौकरी की तलाश में दर-दर धक्के खाना पसन्द करते हैं, जबकि उन्हें गाँव की चहुंमुखी प्रगति में हाथ बंटाना चाहिये।"

नई पीढ़ी में आज भावनाओं के ज्वार भाटे आ रहे हैं। सर हथेली पर रखकर वह देश की आन, बान और शान को कायम रखने के लिये

आगे बढ़ने के लिये तैयार हैं। पूरा भारत उसके इस जोश को हर्षोत्फुल्ल नेत्रों से देख रहा है। उधर इरादे हैं, इधर तकाजे हैं, फिर देर क्या? क्यों न फिर देश के हर कोने में, हर गाँव-गँवई में नई पीढ़ी पूरी शक्ति के साथ भारत की राजनैतिक आज़ादी के स्थायित्व, आर्थिक आज़ादी की पूर्ण प्राप्ति और सांस्कृतिक प्रगति के लिये आगे बढ़ आये? कितना ही काम करने को पड़ा है। दूसरे देश बढ़े चले जा रहे है, उनकी ओर से कर्म की चुनौतियाँ आ रही हैं, क्या नई पीढ़ी इन चुनौतियों को स्वीकार न करेगी?

देश के नेता ने राह सुझाई है। उस राह से भयंकर तूफान काबू में आ जायेंगे। देश की नवयुवा शक्ति उठे तो सही, उठती हुई तूफानी लहरें पहले क़दम से ही यों शांत हो जायेंगी, जैसे कृष्ण के पद का स्पर्श करते ही उस काली अंधियारी रात में उमड़ती जमुना शांत होकर अपने सामान्य स्तर पर बहने लगी थी!

शेरों की तरह रहो

वनेऽपि सिंहा मृगमांस भक्षिणो
बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति ।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूताः ।
न नीतिमार्गं परिलंघयन्ति ।।

मृगों का मांस खाने वाले शेर भूख से व्याकुल होने की स्थिति में जंगल में रहते हुए भी कभी घास नहीं खाते। इसी तरह व्यसनाक्रांत कुलीन जन नीतिमार्ग का कभी उल्लंघन नहीं करते।

आज औद्योगिक युग है, इस युग ने अनेक विशृंखलताएं पैदा की हैं। *क्या नई पीढ़ी इन विशृंखलताओं का शिकार होकर जीवन के स्थायी* मूलमानों की उपेक्षा करेगी? यह प्रश्न भारतीय युवक-युवतियों के सम्मुख है, और विशेषकर आज, जब संकट के बादल घहरा रहे हैं, नेहरू विहित मार्ग पर डटे रहने का उपदेश करते हैं।

"अनेक बार यह होता है कि यदि कोई देश पूरी तरह से तैयार होता है तो लड़ाई की धमकी या लड़ाई नहीं आती है। यदि देश कमजोर होता है तो दूसरे उस पर हमला करने के लिये ललचा जाते हैं।"

—जवाहरलाल नेहरू

२६ नवंबर १९५९ को पंजाब में गुड़गांव (गुरुग्राम) स्थित द्रोणाचार्य सनातन धर्म कालिज में दीक्षांत भाषण करते हुए श्री नेहरू ने कहा कि भारत अब औद्योगिक युग में प्रवेश कर रहा है और औद्योगिक क्रांति को लाने के लिये और भी अधिक प्रयत्न करने होंगे।

उन्होंने इस बात पर बल दिया कि देश को शक्तिशाली बनाने के लिये औद्योगीकरण की ओर अधिक-से-अधिक ध्यान देना होगा।

इस ओर सर्वाधिक ध्यान देने के लिये श्री नेहरू निश्चित रूप से सीमांत पर छाये खतरों के बादलों के कारण कह रहे हैं। उन्होंने देश के सर्वप्रथम दायित्व के सम्बन्ध में कहा :

"हमारे सामने इस समय सबसे बड़ी चीज़ देश को मज़बूत बनाना है। यह काम जलूस निकालने, नारे लगाने या तालियाँ बजाने से नहीं होगा। इनका अधिक लाभ नहीं। हमें इस तरह से काम करना है कि हम चारों ओर से अपने को मज़बूत कर लें और उन चीज़ों के विरुद्ध लड़ें, जो हमें कमजोर करती हैं। बदलते

हुए इन दौरों में, देश के तकाजे भी बदल जायंगे।

"हम शांति चाहते हैं, क्योंकि युद्ध से हमें घृणा है, युद्ध से विनाश होता है, और बड़े युद्ध से बड़ा विनाश होता है। इसलिये हमारी कोशिश शांति के लिये होगी, किन्तु इसके साथ ही हमें हर तरीके से अपने को मजबूत करना होगा। हमें किसी भी खतरे के विरुद्ध निरंतर तैयारी की स्थिति में रहना है। अनेक बार यह होता है कि यदि कोई देश पूरी तरह से तैयार होता है तो लड़ाई की धमकी या लड़ाई नहीं आती है। यदि देश कमजोर होता है तो दूसरे उस पर हमला करने के लिये ललचाते हैं।

"हमें अनुशासित राष्ट्र का निर्माण करना है। ये खतरे केवल वर्तमान समय के लिये ही नहीं हैं किंतु आगामी वर्षों में भी रह सकते हैं।"

"यदि निकट भविष्य में ही खतरा आ जाता है, तो हमें उसका तत्काल मुकाबला करना है और हम उसका मुकाबला करेंगे। साथ ही साथ हमें अपनी शक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने संगठित प्रयत्नों द्वारा बढ़ानी है। ऐसा अन्ततो गत्वा अधिक-से-अधिक औद्योगीकरण और भारी उद्योगों के निर्माण द्वारा होगा।

"भारत औद्योगिक क्षेत्र में संक्रमण काल में से गुजर रहा है। वह औद्योगिक युग में प्रवेश कर रहा है, और अधिक औद्योगिक क्रांति लाने के लिये अधिक यत्न करने होंगे।"

नेहरू के इस भाषण से यह स्पष्ट है कि अब देश को अधिकाधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनने में देर नहीं करनी चाहिये। भारत के सर पर खतरा मंडराने की बात नई पीढ़ी के सामने इससे पूर्व इतने स्पष्ट शब्दों में उन्होंने पहले नहीं की। इसलिये नई पीढ़ी को अपने दायित्वों और कर्तव्यों का इस दौर में सबसे ज्यादा अहसास होना चाहिये।

मौके की नजाकत को देखते हुए श्री नेहरू ने देश की शिक्षा-व्यवस्था

के एक दम बदलने की आवश्यकता पर भी बल दिया। उन्होंने तक्नीकी शिक्षा को प्रोत्साहन दिये जाने की प्रवृत्ति की सराहना की। उन्होंने कहा कि पचास वर्ष पूर्व छात्रों को विदेशों में बैरिस्टरी के लिये भेजने की चाल थी, किन्तु अब छात्र तक्नीकी शिक्षा के लिये जा रहे हैं। देश की शीघ्र उन्नति के लिये यह स्वस्थ वातावरण है। लगभग दो वर्ष पूर्व देश में ७०,००० इंजीनियर थे। अब उनकी संख्या लगभग एक लाख हो गई होगी।

श्री नेहरू जहाँ औद्योगिक प्रगति की तुरन्त आवश्यकता को महसूस कर रहे हैं, वह वहाँ सैन्य-शिक्षा को भी महत्व दे रहे हैं, उनका इस दिशा में बल पहले से कहीं अधिक है। गुड़गांव द्रोणाचार्य सनातन धर्म कालेज वाले अपने भाषण में उन्होंने छात्रों के त्याग की चर्चा करते हुए कहा कि अहमदाबाद के ४८,००० छात्रों ने अपने त्याग के प्रतीकस्वरूप ४८,००० नये पैसे दिये। नेहरू ने इस त्याग पर संतोष प्रकट नहीं किया बल्कि कहा कि उन्हें राष्ट्रीय केडट कोर और सहायक केडट कोर में शामिल हो जाना चाहिये। नेहरू के इस तकाज़े को भी नई पीढ़ी को समझ लेना चाहिये।

औद्योगीकरण, सैन्यीकरण और अनुशासन की दिशा में बढ़ते हुए, नई पीढ़ी को कुछ चीज़ों का ध्यान रखना होगा। श्री नेहरू उनकी ओर आरंभ से ही ध्यान आकृष्ट करते आ रहे हैं, पर जब खतरा घहराने लगता है तो हम कुछ बुनियादी चीज़ों की उपेक्षा कर जाते हैं पर उपेक्षा अपने में स्वयं खतरनाक बन जाती है। इस सिलसिले में उनके पिछले भाषणों पर गभीर रूप से ध्यान देना होगा, पर सबसे अधिक ध्यातव्य भाषण उनका वह है, जो उन्होंने ६ दिसम्बर १६५८ को दिल्ली विश्वविद्यालय के ३६ वें दीक्षांत समारोह के अवसर पर दिया था। आमतौर पर श्री नेहरू मौलिक भाषण करते हैं, किंतु यह भाषण दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० वी. के. राव. वी. राव के विशेष अनुरोध पर लिख कर किया था। विचारों की गंभीरता की दृष्टि से यह भाषण बड़ा महत्व पूर्ण है। लिखित होने के कारण इसमें नेहरू के विचार माला की मणियों

की तरह से सुव्यवस्थित रूप से गुथे हुए हैं।

इस भाषण में श्री नेहरू ने जिन मुद्दों पर बल दिया है, उनकी ओर नई पीढ़ी का ध्यान खींचना बड़ा अनिवार्य है। इनमें एक मुद्दा सामाजिक न्याय का है। इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे को हम किसी भी तरह भुलाकर नहीं चल सकते। देश की समृद्धि और शक्ति का लाभ कुछेक को ही नहीं मिलना चाहिये, बल्कि पूरी जनता को मिलना चाहिये। पूंजीपति और निहित स्वार्थी वर्ग अपने बड़प्पन को कायम रखने के लिये छोटे लोगों का गला घोंट देता है। नई पीढ़ी को इस ओर ध्यान देना होगा, और पीड़ित की सहानुभूति में खड़ा होना होगा। इसी मुद्दे को उठाते हुए श्री नेहरू कहते हैं कि मार्क्सवाद के प्रति रुझान उसकी सामाजिक न्यायवृत्ति के कारण हुआ, किंतु मार्क्सवाद के साथ दो दोष आगये : एक तो हिंसा के व्यवहार का और दूसरे व्यक्ति के दमन का। नेहरू यहाँ अच्छे साध्य के लिये अच्छे साधनों के प्रयोग पर ज़ोर देते हैं, पर साथ ही वह एक और तथ्य की ओर ध्यान दिलाना नहीं भूलते। उनका कहना है कि धनिक वर्ग अपने आप अपने स्वार्थों को नहीं छोड़ता, बल्कि दबाव से छोड़ता है।

दूसरा मुद्दा नेहरू ने गरीबी के साथ किसी तरह का समझौता न करने का उठाया है। उन्होंने कहा कि इसे खत्म करने के लिये हर संभव क़दम उठाया जाना चाहिये।

तीसरा मुद्दा उन्होंने यह उठाया कि आज भी परिवर्तित स्थिति पिछली स्थिति से कहीं आगे है। इतिहास में आज तक ऐसा दौर नहीं आया, जबकि विज्ञान ने समाज को इतनी अधिक गति दी हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि पिछले मूलमान पिछड़ गये हैं, जीवन की पुरानी मान्यताएं लोगों की समझ में नहीं आती, नई मान्यताएं बन नहीं पाईं। इसका परिणाम यह हुआ कि अनुशासनहीनता और अराजकता फैलती जा रही है। यह स्थिति बड़ी भयावह है। श्री नेहरू इस प्रवृत्ति की ओर नई पीढ़ी का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करते हैं। अति औद्योगिक युग का यह रुझान वास्तव में हिमालय की भाँति विकट प्रश्न बनकर खड़ा हुआ है।

इसे हल करना होगा। भारत में जीवन के स्थायी मूलमानों के प्रति अनास्था इतनी विकट नहीं है, पर वह है जरूर, वह बढ़ेगी भी। नई पीढ़ी को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक के रूप में इस समस्या पर विचार करना पड़ेगा और सुलझाने के लिये दत्तचित्त होना होगा।

चौथा मुद्दा उन्होंने यह उठाया कि यद्यपि पूंजीवादी और साम्यवादी देशों में औद्योगीकरण और मशीनीकरण के क्षेत्रों में एकदम समानता है. दोनों प्रकार के देश बड़ी मशीनों के भक्त है, दोनों एक ही भौतिक-शास्त्र और एक ही रसायन-शास्त्र को मानते हैं, पूंजीवादी भौतिक अथवा रसायन शास्त्र साम्यवादी भौतिक तथा रसायन शास्त्र से पृथक् नहीं है, पूंजीवादी अणु और उद्जन बम और साम्यवादी अणु और उद्जन बम में कोई अन्तर नहीं। फिर भी दोनों में अन्तर हैं, मतभेद है उग्र मतभेद हैं। भारत की विदेश नीति सहिष्णुता और सह अस्तित्व की है। नई पीढ़ी को इस तत्त्व और तथ्य को समझ कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सह-अस्तित्व की भावना का प्रसार करके शांति पूर्ण वातावरण की चेष्टा करनी चाहिये।

राष्ट्रीय क्षेत्र में श्री नेहरू साम्प्रदायिक, धार्मिक, प्रांतीय, भाषायी और जातीय मतभेदों को भुलाकर सामाजिक न्याय और सहकार पद्धति से भौतिक साधनों की उन्नति के द्वारा समाजवादी ढांचे में सहायता देने के लिये नई पीढ़ी का आह्वान करते हैं। वह अब तक की समस्त भारतीय श्रेष्ठ परम्पराओं को आत्मसात कर लेने पर बल देते है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त सह-अस्तित्व पर बल देते हैं। उनका कहना है कि सह-अस्तित्व के बिना तो भारत स्वयं भी विघटित होने लग जायगा। उनके मतानुसार आज के अति औद्योगिक युग की विग्रह-शील और विरोधाभास पूर्ण प्रवृत्तियों को दूर करने का भी यही ढंग है।

श्री नेहरू ने अपनी इस भावना को १८ दिसम्बर १९५९ के दिल्ली विश्वविद्यालय-क्षेत्र में गांधी-भवन का शिलान्यास करते हुए और भी स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में गांधीजी के जीवन-विज्ञान को समझना चाहिए और नई पीढ़ी के लिए तो यह और

भी ज़रूरी है। विज्ञान और तकनीक में वह 'चीज़' नही, जो प्रेरणा देती है, प्रेरणा तो गांधीजी के उपदेशों में है। गांधीजी की मान्यताएँ आज भी दुनिया के लिए उपयोगी हैं।

श्री नेहरू नीति-मार्ग बनाम गांधी-मार्ग पर नई पीढी को चलने का उपदेश देकर बस नही कर जाते। वह वर्तमान पीढी को भी गांधी की महान् देनों का स्मरण कराते हैं और विशेषकर उन लोगो को जिन्होंने गांधी जी के चरणों मे बैठकर उनसे ही शिक्षा ग्रहण की थी। यहाँ नेहरू जी का आशय है कि वर्तमान पीढी को कर्म द्वारा नई पीढी का मार्ग-दर्शन करना चाहिए।

नेहरू कर्म की महत्ता पर बराबर बल देते रहे हैं, और इस युग में वह उसकी महत्ता की ओर और भी ध्यान आकृष्ट करते हैं। १३ दिसंबर १९५९ को दिल्ली के रामलीला मैदान में अमरीका के राष्ट्रपति श्री आइजनहावर के नागरिक स्वागत के ऐतिहासिक अवसर पर, जबकि दस लाख से अधिक व्यक्ति एकत्रित हुए थे, श्री नेहरू ने कहा था कि देश की उन्नति अपने कर्म और श्रम पर निर्भर है। उन्होंने वर्तमान और नई पीढी दोनों को कर्म-क्षेत्र मे अग्रसर होने के लिए पुकारा था। उन्होंने नई पीढ़ी से त्याग और बलिदान करने की माँग की थी। त्याग और बलिदान का अर्थ उन्होंने नई पीढ़ी के लिए गांधीवादी आदर्शों के आधार पर अधिक-से-अधिक कर्म और श्रम बताया था।

उन्होंने इस अवसर पर देश-विदेश की स्थिति का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराकर कहा था कि अपने देश को उन्नत करने के लिए हमें स्वयं ही कमर कसकर खड़ा होना होगा। विदेशी सहायता विशेष अर्थ नही रखती:

"कोई मुल्क आगे नही बढ़ता सिवाय अपनी कोशिश के, अपनी हिम्मत के, अपने परिश्रम और ताक़त के।" इस संदर्भ में 'आइक' के विदाई-समारोह में किए गए नेहरू के महत्वपूर्ण भाषण का निम्न अंश मनन करने योग्य है:

"हम अब ख्वाब देखते हैं कि इस मुल्क का एक-एक मर्द और

औरत, एक-एक बच्चा, और खासकर बच्चे और नौजवान उनको पूरा मौका मिले, अच्छी शानदार जिन्दगी रहने का। उनकी जो इस वक्त मुसीबत है, गरीबी है, दरिद्रता है, उसको हम हटाएँ, खत्म करें और हम अपनी मेहनत से, अपनी लियाकत से काफी पैदा करें इस मुल्क मे, जमीन से और कारखानों से और हर तरह से, जिससे खुशहाली हरएक का हिस्सा हो फिर हम और मुल्क और आगे बढ़ें और तरह-तरह के दिमाग़ी मैदानो मे फ़तह पायें।''' ''हम जानते हैं कि यह काम मुश्किल है, परिश्रम का है, मेहनत का है, बलिदान का है—वैसा बलिदान नहीं जो स्वराज्य के ज़माने मे आया था हमारे सामने कि किसीने जान दी, किसीने और मुसीबतें झेली।"

विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे अपने इसी भाषण मे उन्होंने कहा कि वह सिद्धान्तों का सौदा करके नहीं ली जा सकती, "''' ऐसे मौके पर, जब मुल्क की पूँजी कम है, तो अगर इमदाद मिले तो वह तेज़ी से बढ़ सकता है, नहीं तो रफ्तार हल्की होती है। बात सही है और हम इसलिये मशकूर हैं कि जो आपके (आइक) मुल्क से और दूसरे मुल्कों से इसके लिए मदद मिली है, पर कोई मुल्क आगे नहीं बढ़ता सिवाय अपनी कोशिश के, अपनी हिम्मत के, अपने परिश्रम और ताकत के। हाँ, जो हमारे दोस्त हैं, हमसे हमदर्दी रखते है या जो हमारे सिद्धान्त हैं, उनको स्वीकार करते हैं, वह मदद करेंगे तो खुशी से हम उसको स्वीकार करेंगे और हमने स्वीकार भी की है।"

इस भाषण में श्री नेहरू देश की उन्नति के लिए दुनिया के नक्शे को सामने रखने पर फिर ज़ोर देते हैं।

नई पीढ़ी युग की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से मुंह मोड़ कर मात्र जोश में आगे नहीं बढ़ सकती। आज भयकर सत्रस्त और संक्रमण काल मे नई पीढ़ी की पहले से अधिक ज़िम्मेदारियाँ बढ़ गई है।

हम यह नहीं कहते कि नेहरू की कही हुई बातों का अंधानुकरण किया जाय। वह तो कदापि नहीं होना चाहिये। भारतीय परंपरा में श्रद्धा के साथ-साथ तर्क का ऊँचा स्थान रहा है। तर्क का आँचल कहीं भी, कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये। हमारा आशय यही है कि नेहरू ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में नई पीढ़ी के जो दायित्व और कर्त्तव्य सुझाये हैं, वे विचारने योग्य हैं और सफल व्यक्तित्व, सफल समाज, सफल राष्ट्र और सफल देश के निर्माण में वे बहुत दूर तक सहायक हो सकते हैं। नेहरू ने नीति-मार्ग का निर्देश किया है, इस मार्ग को ज्ञान, क्रिया और अनुभव की दृष्टि-तुला पर तोल कर क़दम बढ़ाने चाहियें।